रीति है। वह तीनों चोटियाँ मिलकर एक लट बन गयी हैं। अथवा, इससे जनाया कि केश बिखरे पड़े रहते थे, कभी बाँधे न जाते थे जिससे सब आपसमें मिलकर एक लट या जूड़ा-सरीखे हो गये हैं। बाल साफ न किये जाने और कंघी न करनेसे मैलके संयोगसे ऐसे हो जाते हैं; यथा—'**मलसंकुलमूर्धजाम्**' (वाल्मी० ५। १७। १९)] पुनः भाव कि तीनों चोटियाँ मिलकर एक 'वेणी' हो गयी हैं। जैसे गङ्गा, यमुना, सरस्वती मिलकर (त्रि) वेणी हुई हैं। वाल्मीकीयमें भी एक ही वेणीका उल्लेख है; यथा—'**एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः**।(५। १९। १९) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि पतिव्रता पतिके वियोगमें तीन लड़की वेणी नहीं रखती। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ सेंदूर सरस्वती और मोती लड़ सुरसरिरहित केवल बाल यमुनावत् हैं'—पर वस्तुतः यहाँ त्रिवेणीवाली वेणी अर्थ नहीं है।

टिप्पणी—३ इस अर्धालीमें बाह्यान्तर दोनों वृत्तियाँ कहीं। पूर्वार्द्ध '*कृस तन सीस जटा एक बेनी*' बाह्य वृत्ति है और उत्तरार्ध '*जपति हृदय*·····' अन्तरङ्ग वृत्ति है। रामविरहमें शरीर कृश हो गया है, वचन राम-नाममें लगा है, श्रीरामजी अवश्य आयेंगे यह विश्वास मनमें है और मनको रामचरणमें लीन किये हुए हैं। इस प्रकार मन, वचन, कर्म तीनोंसे श्रीरामचरणमें अनुरक्त हैं। इसीसे आगे हनुमान्‌जीसे सन्देशा भेजा है कि '*मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥*' (५। ३१)

नोट—१ इससे उपदेश देते हैं कि भगवत्-प्राप्ति बिना संसारके समस्त भोग्य पदार्थ त्याज्य हैं।

टिप्पणी—४ '*जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी*' इति। (क) पूर्व आ० २९ में श्रीरामजीकी, कनकमृगके पीछे दौड़ते हुए जानेवाली छबिको हृदयमें रखकर नाम रटते रहना कहा है, यथा—'*सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।*' और यहाँ कहते हैं कि '**जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी।**' इसी प्रकार श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कवि कहते हैं कि—'*राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात।*' (७। १) पर श्रीहनुमान्‌जीने उनसे यही कहा कि—'*जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाती॥*' (७। २)—इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि गुणगणश्रेणी एवं गुणगणपातीका अर्थ है '*राम राम*' '*राम राम रघुपति*' इत्यादि और '*जपति रघुपति गुन श्रेनी*' का अर्थ है—हृदयमें श्रीरामजीकी छबिका ध्यान रखते हुए रामजीके नाम रटती हैं।' जपसे रटना और स्मरण दोनों जनाये। श्रेणी=पंक्ति। [अध्यात्मरामायणमें भी राम-राम रटना कहा है, यथा—'**भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम्**।' (५। २। १०) 'गुणश्रेणी' से श्रीरामजीके पराक्रम, सौन्दर्य, करुणा, अनुकम्पा, दीन-दयालुता आदि गुणों एवं ऐसे गुणसूचक नामोंका स्मरण तथा विरहमें उनका उच्चारण भी अभिप्रेत हो सकता है।]

प० प० प्र०—हनुमान्‌जीने यह बात जान ली कि वे हृदयमें रघुपति गुणगणोंका चिन्तन कर रही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जीको परचित्तविज्ञान-सिद्धि प्राप्त थी।

टिप्पणी—५ इस अर्धाली और दोहेमें ग्रन्थकारने नामजपकी विधि बतायी है। भगवान्‌की मूर्तिका अनुसन्धान करके मन्त्र जपे। श्रीसीताजीके हृदयमें श्रीरघुपतिगुण-श्रेणी है, मन श्रीरामचरणारविन्दमें लीन है, छबिका ध्यान है और '*रटति रहति हरिनाम*'। इसी तरह श्रीरामजन्मपर और श्रीमनुशतरूपाजीके प्रसङ्गोंमें जपकी विधि कही गयी है; यथा—'*मज्जहिं सज्जनबृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥*' (१। ३४) '*द्वादश अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग। बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥*' (१। १४३)

नोट—२ '*कृसतन*··········।' *तामरस* और '*जपति*··········' पायकुलक है। (ब्र० चं०)

दो०—निजपद नयन दिए मन रामचरन महुँ* लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥ ८॥

अर्थ—श्रीजानकीजी नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये हुई हैं, और उनका मन श्रीरामजीके चरणोंमें लीन (अनुरक्त, निमग्न) है। श्रीजानकीजीको दीन (दुःखकी अवस्थामें) देखकर पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जी परम दुःखी हुए॥ ८॥

* चरन महुँ—१७२१, १७६२, कोदवराम। चरन महँ—छ०। कमल पद—का०। १७०४, दुलही।

टिप्पणी—१ *'निजपद नयन दिए'* इति। (क)—[*'निजपद'* में दृष्टिको लगानेमें भाव यह है कि जो अड़तालीस चिह्न श्रीरामपदमें हैं वे ही श्रीजानकीजीके चरणोंमें हैं। जो श्रीरामजीके वामपदमें २४ चिह्न हैं वे ही श्रीजानकीजीके दक्षिणपदमें और जो उनके दक्षिणपदमें हैं वे ही इनके वामपदमें हैं। इस प्रकार निजपदमें श्रीरामपदोंका अध्याहार है। अपने चरणचिह्नदर्शनसे उद्दीप्त वे श्रीरामचरणचिह्न दर्शनमें मनसे लीन हैं।—(पाँ०, शिला)] (ख)—नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये हैं, जिसमें मनको संकल्प-विकल्प करनेका अवसर ही न मिले। नेत्रोंकी चञ्चलतासे मन चञ्चल हो जाता है, उसकी अन्तरंगवृत्ति छूट जाती है, बाह्यवृत्ति हो जाती है। अतः प्रथम नेत्रोंका निरोध कहा। अथवा, (ग)—पदके देवता विष्णु हैं। बाहर तो नेत्र और भीतर सूक्ष्म मन ये ही दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। दोनों ही ध्यानके प्रतिबन्धक हैं; अतः दोनोंको भगवान्‌में लगा दिया। दर्शनमें नेत्र और मन साथ-साथ प्रवृत्त होते ही हैं; यथा—*'बालक बृंद देखि अति शोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥'* (१। २१९), *'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥'* (२। ११५) तथा यहाँ *'निजपद दिए……'*।

नोट—१ *'निजपद नयन दिए मन।'* चरणोंपर ध्यान जमाये रहना त्रिदण्ड संन्यासका लक्षण है। मन, वचन, कर्म तीनोंका निरोध करना त्रिदण्ड संन्यास है। पुनः, दोनों चरणोंके अङ्गुष्ठोंके मध्यमें नेत्रोंको स्थिर करना यह योगाङ्गसिद्ध उन्मनी मुद्रा है, इससे जानकीजीकी योगावस्था जनायी। *'कृस तन सीस जटा एक बेनी'* यह योगियोंका लक्षण है। निज पदोंमें श्रीरघुनाथजीके चरणोंका अध्याहार है।

नोट—२ शङ्का—यहाँ ग्रन्थकारने चरणोंका विशेषण कमल क्यों नहीं दिया? समाधान—जिस समय श्रीराघवजी मृगके पीछे दौड़े, उस समय श्रीजानकीजीने उनके चरणोंको कमलवत् कोमल नहीं समझा था, नहीं तो रोक रखतीं और यह ध्यान उसी रूपका है; अतः कमल विशेषण न दिया। पुनः उसी छबिके स्मरणद्वारा भाव यह जनाया कि जैसे मेरे वचनको मान आप मृगके पीछे दौड़े, पृथ्वीकी कठोरताको तनिक भी नहीं विचारा और चरणोंकी कोमलताको भी स्मरण न किया; उसी प्रकार इस समय भी आप अपने चरणोंकी कोमलताको न स्मरण कीजिये, आइये और मेरा क्लेश दूर कीजिये। पुनः, संन्यासियोंके लिये सब रसोंका त्याग लिखा है, जानकीजी संन्यासावस्थामें हैं। कमल सरस, सुगन्ध तथा परागमय होता है, अतः भगवत्प्राप्तिमें रसोंको बाधक जान आचार्यने कमलकी उपमा नहीं दी। (मा० त० सु०) पुनः धर्मशास्त्रका आदेश है कि जिस स्त्रीका पति परदेशमें हो उसे पुष्पमाला, इत्र, क्रीड़ा, शरीर-संस्कार, समाजोत्सवमें सम्मिलित होना, गाना, ताम्बूल, स्निग्ध, उत्तेजक भोजन, विनोद आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। —'**क्रीडाशरीरसंस्कारसमाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥**' (याज्ञवल्क्यस्मृति) इसके अनुसार पुष्प एवं सौगन्धिक होनेसे 'कमल' का स्मरण होना प्रोषितपतिकाके धर्म-व्याघातका कारण होता है। यदि इस समय एकान्तमें वे चरणोंको कमलवत् स्मरण करतीं तो कमलके पुष्पत्व एवं सौगन्धिकत्वका स्मरण होना अनिवार्य था जो उनके लिये शास्त्रवर्जित होनेसे धर्मघातक माना जाता इसीसे चरणके साथ 'कमल' विशेषण न तो यहाँ है और न आगे *'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना'* में। (वेदान्तभूषणजी)

नोट—३ पंजाबीजीका मत है कि *'निजपद'* में नेत्रोंको लगानेका भाव यह है कि तुम ही हमारे बन्धनके कारण हो; यदि श्रीलक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखाका उल्लंघन तुम न करते तो मैं इस दशाको न प्राप्त होती। और मनको श्रीरामचरणमें लगानेका भाव यह कि मानो मनसे कहती हैं कि तेरी ही प्रेरणासे ये चरण-कमल मृगके पीछे धाये। अथवा, नेत्रोंको चरणोंके सम्मुख इस विचारसे किया कि नेत्र द्वार हैं और चरण कपाट हैं, ये उनको बाहर न जाने देंगे; तथा मन प्रभुके चरणोंसे प्रार्थना करता है कि शीघ्र प्रयत्न करके आइये और हमारे दुःखको छुड़ाइये। पुनः, चरण ही वियोगमें संयोग करानेवाले हैं, अतः उनमें मनको लीन किया। (पाँ०)

नोट—४ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि नेत्रोंको चरणोंमें लगाना यह स्त्रियोंकी मुद्रा है और नेत्रोंसे नासिकाके अग्रभागको देखना पुरुषोंकी मुद्रा है।

टिप्पणी—२ पूर्व कहा कि *'जपति हृदय रघुपति गुनश्रेनी'* अर्थात् रामनाममें मन लगा है और यहाँ कहते हैं कि रामचरणमें मन लगा है। एक ही समयमें मन दो जगह नहीं लग सकता, यह सामर्थ्य जीवमें नहीं है; ये ईश्वर हैं; अतः इनको यह सामर्थ्य है। (प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मन दो प्रकारका होता है, एक बाह्य मन, दूसरा आन्तर्मन (बाह्य मन स्थूल है, वही चरणचिह्नोंमें लीन है। आन्तर्मन गुणश्रेणीका चिन्तन कर रहा है। एक मन तो यह विचार कर रहा है कि मेरे लिये प्रभुने कठोर शिवचापको तोड़ा, परशुरामका गर्व चूर किया, जयन्तकी आँख फोड़ी पर मुझे छुड़ाने क्यों नहीं आते हैं, इत्यादि। वे रघुपति हैं, अपने कुलकी कीर्तिके लिये वे अवश्य आयेंगे, इत्यादि।)

टिप्पणी—३ *'परम दुखी भा पवनसुत…………'* इति। (क) भाव यह कि बिना देखे दुःखी थे और अब दीन दशा देखकर *'परम दुखी'* हुए। (ख)—पवनसुत दुःखी हुए। भाव यह कि *'पवनतनय बल पवन समाना'* अर्थात् ये परम बलवान् हैं पर यहाँ कुछ भी पराक्रम करनेका मौका इस समय नहीं है; इससे दुःख सह रहे हैं कि बल होते हुए भी कुछ नहीं कर सकते।

नोट—५ यथा—*'सुवन समीरको धीरधुरीन, बीर-बड़ोइ। देखि गति सिय-मुद्रिकाकी बाल ज्यों दियो रोइ॥ अकनि कटु बानी कुटिलकी क्रोध-बिंध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ॥ बुद्धि-बल साहस-पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साज-समाज साधक समउ, कहँ सब कोइ॥'* (गी० ५। १—३) यहाँ द्वितीय उल्लास अलङ्कार है। इसी प्रकार वाल्मी० सुं० १६। २८ में श्रीहनुमान्‌जीके स्वयं वाक्य हैं कि सुख भोगने योग्य इन जानकीजीको दुःखी देखकर मेरा कलेजा मारे दुःखके फटा जाता है; यथा—**'सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः।'**

टिप्पणी—४ *'जानकी'* नामका भाव यह कि रात-दिन जागना, एक आसनपर निरन्तर बैठे मन्त्र जपना और मनको भगवान्‌में लीन करना वे योगीके काम हैं, सो ये कर रही हैं। यह यथार्थ ही है क्योंकि योगिराज जनकजीकी कन्या हैं—**'जनको योगिनां वरः।'**

टिप्पणी—५ इस प्रसङ्गके आदि और अन्त दोनोंमें दुःख ही कहा—*'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥'* (८। १) उपक्रम है और *'परम दुखी भा………'* उपसंहार। भाव यह कि स्वामीको भुलाकर दुःखी होना इन्होंने अङ्गीकार न किया, वरन् उनके विरहमें दुःखी बनी रहना स्वीकार किया इसीसे प्रभु भी दुःखी हुए। ☞ यह ग्रन्थकारका उपदेश है। [यह दोहा दोहरा मिश्रित छन्द है।]

'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा' प्रसङ्ग समाप्त हुआ।

'पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा'—प्रकरण

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई। करै बिचार करौं का भाई॥ १॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी वृक्षके पत्तेमें छिपे रहे और विचार करते हैं—अरे भाई! क्या करूँ? (अर्थात् सीताजी नीचेकी ओर दृष्टि किये हुए समाधि-अवस्थामें हैं और बहुत-सी राक्षसियाँ इनकी रक्षा कर रही हैं, ऐसेमें इनका शोक मैं क्योंकर दूर करूँ?)॥ १॥

टिप्पणी—१ पल्लव एकवचन है। इतना सूक्ष्मरूप है कि एक ही पल्लवमें छिप गये और इस प्रकार छिपे कि जिसमें राक्षसियाँ न देख पावें। पुनः, रावणका आगमन जानकर छिप रहे।

नोट—१ वाल्मी० सुं० १८। ३२ **'पत्रगुल्माभ्यान्तरे सक्तो हनुमान्संवृतोऽभवत्।'** रावणका आगमन देखकर सघन पत्तोंमें छिपना कहा गया है। बाबा हरिदासजीका मत है कि वे श्रीसीताजीका दुःख न देख सके अतः छिप गये अथवा क्या करना कर्त्तव्य है यह विचार करनेके लिये एकान्तमें हो गये जिसमें मन दूसरी ओर न जाय। अथवा, जैसे लंकिनीने मुझे, अतिलघुरूप होनेपर भी देख लिया था वैसे ही यहाँ कोई निशाचरी मुझे न देख ले, यह सोचकर पल्लवके भीतर छिप रहे।

नोट—२ *'करै बिचार'* इति। भाव यह कि श्रीजानकीजी तो सिर उठाती ही नहीं, दृष्टि चरणोंसे हटाती

ही नहीं और ध्यानमें मग्न हैं तब मुद्रिका इनके पास कैसे पहुँचाऊँ, दूसरे राक्षसियाँ पहरा दे रही हैं; कुछ समझमें नहीं आता कि क्या किया जाय। ऐसी ही अवस्थामें प्राय: *'करौं का भाई'* ऐसा स्वत: मनमें विचार उठ पड़ा करता है।

टिप्पणी—२ *'करै बिचार'* से हनुमान्‌जीकी बुद्धिमत्ता जनायी। ये बड़े बुद्धिमान् हैं, बिना विचारे काम नहीं करते। इनके विचारके उदाहरण हैं—*'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥'* (४। १९), *'कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।'* (५। १२), *'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह बिचार।'* (५। १९) तथा यहाँ विचार करनेका तात्पर्य यह है कि विचारकर कार्य करनेसे कार्य सिद्ध होता है।

टिप्पणी—३ *'करौं का भाई'* इति। *'भाई'* मनका सम्बोधन है; बोलने और विचार करनेकी यह भी एक रीति है।

नोट—३ *'जग बहु नर सर सरि सम भाई।'* (१। ८), *'जो नहाइ चह एहि सर भाई।'* (१। ३९), *'करहिं बिचारु करउँ का भाई॥'* (१। ५२), *'होइहिं जात गहरु मोहि भाई।'* (१। १३२) इत्यादि सर्वत्र मनके प्रति सम्बोधन *'भाई'* शब्दसे किया गया है (यह बोलचालका मुहावरा है। पाँड़ेजी कहते हैं कि—वृक्ष और वानरका सम्बन्ध है अत: *'भाई'* कहा। अथवा, *'का भाई'* अर्थात् समयानुकूल श्रीजानकीजीको क्या भावेगा जो मैं करूँ?

तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा॥ २॥

अर्थ—उसी समय रावण वहाँ आया। बहुत बनाव (शृङ्गार) किये हुए है और बहुत-सी बनी-ठनी स्त्रियाँ उसके साथ हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'तेहि अवसर............'* इति। [अर्थात् जिस समय श्रीहनुमान्‌जी विचारधारामें पड़ गये, उसी समय। ☞जब भगवद्भक्तोंको असमंजस आ पड़ता है कि क्या करें, उस समय भगवत्कृपा उनकी सहायता करती है। *'तरुपल्लव'* में इनका छिपना भी मानस-मतानुसार हरि-इच्छासे ही हुआ और] रावणका इस प्रकार इसी अवसरपर (और सम्भवत: आज ही प्रथम-प्रथम) आगमन भी प्रभुकी प्रेरणासे हुआ। [इस ग्रन्थमें ही बहुत-से उदाहरण ऐसे हैं जिनमें भगवद्भक्तोंको असमंजसके कुयोग ही सुयोगरूप हो गये। जैसे—(क) किष्किन्धाकाण्डमें जब *'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना॥'* (४। २४) तब विवर देख पड़ा जिसमें जानेपर तपपुंज स्वयंप्रभाका दर्शन हुआ जिसने समुद्रतटपर सबको पहुँचा दिया। (ख) *'डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥'* (४। २७) यह कुयोग होनेपर उसी सम्पातीसे श्रीसीताजीका पता मिला। (ग) *'मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला।'* (५। १२) उस परम विरहाकुल दशामें 'मुद्रिका' मिलनेका सुयोग हुआ (घ) मेघनाद जब हनुमान्‌जीको नागपाशमें बाँधकर ले गया और इनकी पूँछ जली तब *'जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥'* यह सुयोग हुआ। इत्यादि। वैसे ही यहाँ रावणका अकस्मात् आगमन, त्रिजटाका स्वप्न सुनाना और श्रीसीताजीका अशोकसे अंगार माँगना—यह सुयोग हुए। (मा० त० भा०)]

टिप्पणी—२ *'रावन तहँ आवा'* इति। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि रातको चौथे पहरमें रावणको स्वप्न हुआ कि एक वानर श्रीजानकीजीके समीप आया है और उनसे बातें कर रहा है, अतएव वह जागते ही तुरत स्त्रियोंको लिये हुए वहाँ आया (वाल्मीकीयमें स्वप्नका उल्लेख नहीं है, पर सोकर उठते ही श्रीसीताजीके पास आना उसमें भी है)।

नोट—१ अध्यात्मरामायण सर्ग २ श्लोक १३ और १४ में रावणको स्त्रियोंसहित आते देखकर हनुमान्‌जीका पत्तोंमें छिपना कहा गया है और मानस-कविने छिपनेके पश्चात् रावणका आगमन कहा है, जब ये विचारमें पड़े हुए थे कि क्या-क्या उपाय श्रीजानकीजीसे मिलनेका करूँ। श्लोक १७ में रावणका स्वप्न है। यथा—'**स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः। कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति॥**' आनन्दरामायण सारकाण्ड सर्ग ९ में भी रावणका स्वप्न इत्यादि है। यथा—'**ददर्श रावणः स्वप्ने कपिः कश्चित्समागतः। अशोकवनिकायां**

सा दृष्टा तेन विदेहजा॥ रामहस्तान्मृतिः शीघ्रं लब्धुं धर्षयाम्यहम्। कपिर्दृष्ट्वा राघवाय निवेदयतु मत्कृतम्॥ आगमिष्यति तच्छ्रुत्वा रामो मां निहनिष्यति। इति निश्चित्य संययौ स्त्रीभिः संवेष्टितो मुदा॥' (६९-७०,८१)

टिप्पणी—३ ***'संग नारि बहु किये बनावा'*** इति। सब स्त्रियाँ उसकी रानियाँ हैं, यह बात कविने आगे स्वयं स्पष्ट कर दी है, यथा—***'मंदोदरी आदि सब रानी॥'..............'तव अनुचरी करउँ पन मोरा॥'*** (९। ४-५) बालकाण्डमें कहा था कि ***'देव यक्ष गंधर्व नर किन्नर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि॥'*** (१८२) वही सब ये स्त्रियाँ हैं जो इसके साथ हैं। संग लाया, जिसमें जानकीजी जानें कि रावण स्त्रियोंको बहुत सुख देता है। ***'बहु किये बनावा'*** जिससे बनाव देखकर मोहित हो जायँ। स्त्रीको मोहित करनेके लिये पुरुष शृङ्गार करते हैं और पुरुषको मोहित करनेके लिये स्त्रियाँ शृङ्गार करती हैं। स्त्रियोंको शृङ्गार कराये हुए है जिसमें उन्हें देखकर मेरे वश हो जायँ और स्वयं शृङ्गार किये है, जिसमें जानें कि बड़ा ऐश्वर्यवान् है और बड़ा सुन्दर है। [वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वह रावण समस्त आभूषणोंको पहननेके कारण अपूर्व शोभायुक्त था और परम रूपवती स्त्रियोंसे घिरा हुआ ऐसा देख पड़ता था जैसे तारागणोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित हो। यथा—**'स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम्।'** (५। १८। ६), **'वृत्तः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः।'** (५। १८। २९)]

नोट—२ ☞ रावणने जो संकल्प किया था कि ***'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं'.........'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा'***, इसीको निबाहनेके लिये कुछ महानुभावोंने यह मानकर कि रावणके हृदयमें सीताजीके प्रति कामचेष्टा कदापि न थी, इस प्रसंगके भावार्थ दूसरी तरह किये हैं। अध्यात्ममें भी लिखा है कि अपनी मृत्यु शीघ्र रामजीके हाथों हो, इस विचारसे स्वप्न देखनेपर उसने निश्चय किया कि मैं अपने वचन-बाणोंसे सीताजीको बेधूँ जिसमें वानर शीघ्र श्रीरामजीको जाकर ले आवे।

नोट—३ जो अर्थ रावणको भक्त मानकर किये गये हैं वे क्लिष्ट हैं। उनको इस ग्रन्थमें गुप्तार्थ (रावणपक्षका अर्थ) शब्दसे सूचित किया जायगा।

नोट—४ गुप्तार्थ—***'संग नारि बहु किये बनावा।'*** इनको साथ ले जानेका कारण यह है कि सीताजी रावणकी इष्टदेवता हैं। यह सोचता है कि मेरी मुक्ति तो प्रभुके शरसे मारे जानेसे हो ही जायगी पर इनकी मुक्ति कैसे होगी? इनको ले जाकर शरणागत करा दूँ, इनकी कृपा हो जानेसे इनकी मुक्ति हो जायगी; इसीसे आगे कहेगा कि ***'तव अनुचरी करौं'*** आपकी दासी इनको बनाता हूँ। पुनः साथ ले जाकर स्त्रियोंको शिक्षा देता है कि देखो पतिव्रता ऐसी होती हैं। पुनः, सांसारिक प्राणियोंको अपने द्वारा उपदेश देता है कि अपनी परमपूज्या देवीके समीप भी जाय तो एकान्तमें अकेले कभी न जाय; अतएव वह इष्टदेवीके पास भी इतनोंको साथ लेकर गया। (मा० त० सु०)

नोट—५ प० प० प्र०—रावण किस हेतुसे आया इसमें मतभेद होनेपर भी मानसके पूर्वापर संदर्भानुसार यह निश्चित है कि वह कामवासनासे नहीं आया। ***'मन महुँ चरन बंदि सुख माना।'*** (३। २८। १६) के टिप्पण देखिये। रावण भी अवतार है, यथा—***'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।'*** (७। ६४) श्रीरामजी अवतार हैं। दोनों अपना अवतारित्व छिपाकर लीला करते हैं। एक राक्षसलीला करता है दूसरे नरलीला करते हैं। ***'तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥'*** ***'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।'***, ये रावणके विचार हैं। मनमें दृढ़ संकल्प किया है। यहाँ कर्मसे और वचनसे वैर-विरोध बढ़ानेके लिये ही आया है। रावण सीताजीका भक्त था ऐसा मानना भी सुसंगत नहीं है।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दान* भय भेद देखावा॥ ३॥

अर्थ—उस दुष्टने बहुत प्रकारसे सीताजीको समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाया॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ***'खल'*** कहनेका भाव कि खलता (दुष्टता) से साम, दान समझाया और 'खलता' से भय और भेद दिखाये। (ख) ***'बहु बिधि'*** इति। जैसे रावणने समझाया वैसा गोस्वामीजी न लिख सके

* दान—१७०४, का०, १७२१, भा० दा०, १७६२, र० दास, बं० पा०। दाम—कोदवराम, ना० प्र०।

क्योंकि उसकी वार्ता अधर्ममय है। अधम बात है, इससे इतना ही कहा कि *'बहु बिधि समुझावा'*। पहले भय और प्रीति दिखाकर हार गया है, यथा—*'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।'* (३। २९) अतः अब बहुत विधिसे समझाकर भय और प्रीति दिखाता है।

टिप्पणी—२ रावण राजा है। राजाके उरमें नीति बसती है, यथा—*'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥'* (६। ३७) अतएव इन चारोंको दिखाया। क्रमसे इन चारोंके उदाहरण ये हैं—(क) *'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी'*, (ख) *'मंदोदरी आदि सब रानी। तब अनुचरी करौं पन मोरा।'*, (ग)*'कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना'*, (घ) *'संग नारि बहु किये बनावा।'*

टिप्पणी—३ *'देखावा'* का भाव कि मारता नहीं है, भय दिखाता है कि हम ऐसे हैं, हमारे साथ बहुत-सी रानियाँ हैं, हम इनको सब प्रकार सुख देते हैं और तुम एक ही रहीं तो भी राम तुम्हारी रक्षा न कर सके। उसको पूरी आशा है कि वे उसके अनुकूल हो जायँगी।

नोट—१ *'खल'* शब्द मात्र देकर जना दिया है कि उसकी सब वार्ता अधर्ममय थी। वाल्मीकिजीने अध्याय २० और २२ में लिखा है वह सब गोस्वामीजीने इन दो चरणोंमें कह दिया।

☞ लमगोड़ाजीकी धारणा ठीक ही है कि श्रीमद्गोस्वामीजी अपने सबसे सुन्दर आलोचक हैं। प्रत्येक प्रसङ्ग, वक्तृता वा वक्तव्यपर यदि हम उन्हीं पूज्य कविके विचार देख लें तो आजकलकी बहुत-सी ऊटपटाङ्ग शंकाएँ और आलोचनाएँ करके लोग हमें दुःखी न करें। आगेकी वक्तृता (वक्तव्य) की क्या इससे उत्तम और विवेचना हो सकती है?

नोट—२ गुप्तार्थ—'सर्वेश्वरी' जानकर भी समझाने लगा, इसीसे उसे *'खल'* कहा। गुप्त अर्थ यह है कि—श्रीसीताजीको समझाया कि मैं बहुत प्रकारका खल हूँ।' (मा० त० सु०)

नोट—३ पूर्वार्ध पायकुलक है और उत्तरार्ध स्वागता है।

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ ४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५॥

अर्थ—रावणने कहा—हे सुमुखी! हे सयानी! सुनो। मन्दोदरी आदि सब रानियोंको तुम्हारी दासी बना दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार मेरी ओर देख दो॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ *'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।…………'* इति। (क) *'सुमुखि'* का भाव कि पुरुष स्त्रीके मुखपर मोहित होता है, यथा—*'जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू॥'* (२। २६), *'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥'* (१। २३०), *'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा॥'* (१। २३७), और, *'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट॥'* (७। ११५) इत्यादि। रावण सीताजीके मुखपर मोहित होकर मन्दोदरी आदि सब रानियोंको उनकी अनुचरी करता है। *'सयानी'* का भाव यह है कि ऐसे लाभको शीघ्र ग्रहण करना उचित है, चूको मत, इसका त्याग न करो।

नोट—१ *'सुमुखि……'* के और भाव—(१) तुम्हारा सुन्दर मुख तपस्वीके योग्य नहीं है; यथा—**'किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा॥'** (वाल्मी० ५। २०। २५) (२)—यहाँ रावण केवल *'सुमुखि'* कहता है और किसी अङ्गसे विशेषण नहीं देता। कारण कि महारानीजी अपने सब अङ्गोंको छिपाये, दोनों घुटनोंके बीच अपना सिर किये अपने पैरोंको देख रही हैं और दोनों हाथोंसे दोनों घुटनोंको बाँधे हैं; इसलिये उसे और कोई अङ्ग दिखायी नहीं पड़ता। मुख कपड़ेके भीतर होनेपर भी चमकता है; अतएव *'सुमुखि'* कहा। *'सयानी'* का अभिप्राय कि यदि ये मानवी हैं तो मेरी बातोंमें आ जायँगी और यदि ईश्वरी हैं तो बातोंमें न आयँगी; मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। (रा० शं०) (३)—तुम *'सयानी'* अर्थात् चतुर हो, समझ लो कि यदि अभी कहना मान लोगी तो इन सबको तुम्हारी दासी बना दूँगा नहीं तो तपस्वियोंको जीतकर जब तुम्हें रानी बनाऊँगा तब तो इन सबोंकी दासी बनाकर रखूँगा।

नोट—२ गुप्तार्थ—*'सुमुखि'* का भाव कि इसी मुखके आशीर्वादसे जीवोंका कल्याण है, हमारे कल्याणका मुख्य कारण आपका मुख है। *'सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चरम कहत बैदेही॥ तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥'* जब आपने हमारे कल्याणके लिये कहा, तब प्रभु अभिप्राय लखकर उठे। *'सयानी'* अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं; जिस कारण यहाँ आयी हैं वह जानती ही हैं। *'तव अनुचरी करउँ'* इनको दासी स्वीकार कीजिये। *'पन मोरा'* क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा तो अपने ही उद्धारके लिये है। यदि आप कहें कि प्रभु जानें, मैं क्या करूँ, इसलिये कहता है कि यदि आप कृपाकटाक्ष कर दें तो बिना परिश्रम मुक्त हो जाऊँ, नहीं तो प्रभुको और मुझको दोनोंको श्रम होगा। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) *'मंदोदरी आदि सब रानी।'* इति। *'मंदोदरी आदि'* मन्दोदरीको आदिमें कहनेका भाव यह कि मन्दोदरी रावणकी समस्त रानियोंमें श्रेष्ठ और परम सुन्दरी है; यथा—*'मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥'* (१। १७८) (ख) *'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।'* इति।—*'अनुचरी करउँ'* का भाव कि ये तुमसे 'सवति भाव' न रखेंगी, तुम्हारी दासी बनकर तुम्हारी सेवा करेंगी। ☞ सौतें कभी दासी बनकर नहीं रहतीं, वे अपना पतिका सुख कदापि नहीं छोड़ना चाहतीं; यथा—*'नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई॥'* (२। २१); अतएव रावण कहता है कि मैं उनको दासी बना दूँगा। [वाल्मीकीयमें भी कहा है—'**मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवरस्त्रियः। तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा॥**' (५। २०। ३२) अर्थात् मेरे रनिवासमें तीनों लोकोंकी परम श्रेष्ठ स्त्रियाँ हैं वे सब तुम्हारी टहल इस तरह करेंगी जैसे अप्सराएँ लक्ष्मीजीकी करती हैं।] यह कहकर अपने वचनकी पुष्टिके लिये कहता है कि यह मेरा प्रण है; मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।—क्योंकि प्रण करके उसे न निबाहनेसे मनुष्य (और फिर नृपति) अशोभित होता है; यथा—*'नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन॥'* (जानकीमंगल ४१) और प्रतिज्ञाके असत्य होनेसे सुकृतोंका नाश होता है, यथा—*'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'* (१। २५२); और सुकृतके नाशसे नरक होता है, इसीसे सुकृती लोग प्रणको पुष्ट रखते हैं।—*'सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा'*, *'कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ'*, *'भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी'* और *'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह'* इत्यादि।

टिप्पणी—३ *'एक बार'* का भाव कि यह सब केवल एक बार दृष्टि करनेका मोल है। अथवा, रावणकी ओर श्रीजानकीजी कभी नहीं देखतीं, अतएव एक बार अवलोकन करनेकी प्रार्थना करता है। अथवा, बहुत बनाव किये है सो उसीको दिखाना चाहता है और वे देखती नहीं, नीचेकी ही ओर दृष्टि किये हैं, अतएव एक बार देखनेको कहा।

नोट—३ गुप्तार्थ—*'एक बार बिलोकु'* में गुप्त भाव यह है कि एक बारहीके कृपावलोकनसे मेरा तामसी स्वभाव नष्ट हो जायगा और मैं विषयोंसे विरक्त होकर स्त्रियोंको त्यागकर भक्तिमें लग जाऊँगा।

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥ ६॥

अर्थ—तिनकेकी ओट (आड़, परदा) करके और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजीका स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहती हैं—॥ ६॥

'तृन धरि ओट कहति'

सती स्त्रीको परपुरुषकी ओर देखना निषेध है; यदि बात करना पड़े तो परदेसे करे; यह मर्यादा पतिव्रताओंके लिये रखी गयी है। इस समय श्रीजानकीजीके शरीरपर अच्छी तरह तन ढकनेको कपड़ा भी नहीं है; परदेकी तो बात ही क्या? अतएव उन्होंने तृणका ओट करके बात की, सम्मुख नहीं। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें भी तृणकी ओटसे बात करना पाया जाता है; यथा—'**तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता।**' (वाल्मी० ५। २१। ३), '**उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे।**' (अध्यात्म० ५। २। ३१)

तृणकी ओटसे बात करनेके अनेक भाव कहे जाते हैं—

(१) रावणने अयोग्य बात कही, अतएव उस पापात्मा दुष्टकी ओर देखना नहीं चाहतीं। अथवा,

जैसे रामजी सीताजीको छोड़ किसी दूसरी स्त्रीकी ओर स्वप्नमें भी दृष्टि नहीं डालते, यथा—'*मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥*' (१। २३१), '**न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।**' (वाल्मी० २। ७२। ४८); वैसे ही जानकीजी श्रीरामजीको छोड़ किसी पुरुषकी ओर दृष्टि नहीं करतीं; यथा—'*जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥*' (६। १०८), '**यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।**' (वाल्मी० ६। ११९। २५) अतएव बातका उत्तर देनेमें तृणका ओट कर लिया। (पं० रा० कु०)

(२) '*तृन*' का अर्थ तुलसीशब्दार्थमें 'आँचर (आँचल)' और 'घूँघट' दिया है; यथा—'*मुख झँपन सारँग दमन सती उपरना जौन। श्रापदेन भिक्षालयन ये पाँचों तृण तौन॥*' [पुनः, यथा—'*शिशु झँपन सारँग दहन चन्द्र अँगौछन जौन। बिजय करन अरु क्षय करन तुलसी कह तृन तौन॥*' (रा० बा० दा०)]—तात्पर्य कि घूँघटकी ओटसे बात की। (मा० त० भा०)

(३) तृणधरी=पृथ्वी। **तृन धरि ओट**=पृथ्वीकी ओट लेकर। अर्थात् मुख नीचे करके। [परन्तु वाल्मीकीयके उद्धरणसे स्पष्ट है कि मुख नीचे किये थीं तब भी तृणकी ओटसे बोली थीं। ☞ मानसमें तृन शब्द अनेक बार आया है और तिनकेके ही अर्थमें। यथा—'*बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।*' (१। १६), '*तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥*' (२। ३५। ८), '*राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृन तोरें॥*' (२। ७०। ६), '*नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु..........।*' (२। १४२), '*जो तृन तोरि लाज परिहरई।*' (३। १७। १८), '*तृन समान सुग्रीवहि जानी।*' (४। ८। १), इत्यादि।]

(४) वि० वि०—'तृन' का अर्थ तिनका ही है वाल्मीकिजी भी यही कहते हैं—'**तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता**'। इसकी टीका रामाभिरामीमें उक्त है '**तृणमन्तरतः कृत्वा। परपुरुषस्य साक्षात्सम्भाषणानर्हत्वात्॥ भूम्यां किञ्चिदन्तर्धाय मूत्रादिविसर्जनवत् तृणान्तरेण तस्य मुखे प्रत्युत्तरदानम्। कथमस्य दुरात्मनो रजस्तमोभूतस्य मयि दुराशेति शुचिस्मिता॥ प्रत्युवाचेति पुनरभिधानं प्रकारविशेषकथनार्थम्॥ एतेन तृणीकृतप्राणतया तृणतुल्यतमा रावणस्य ग्रहणाच्च निर्भयप्रत्युत्तरदानम् इति बोध्यम्॥**' भावार्थ यह कि परपुरुषसे साक्षात् सम्भाषण करना उचित न समझकर तृणको बीचमें करके बोलीं। जिस भाँति साक्षात् मूत्रपुरीषोत्सर्ग पृथ्वीपर न करके तृणादिको अन्तर करके ही किया जाता है। इससे यह भाव भी है कि रावणको तृणके समान मानकर और अपने प्राणको तृणके समान मानकर निर्भय होकर रावणको प्रत्युत्तर दिया। अध्यात्ममें भी '**उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे।**' कहीं-कहीं मैंने तृणके अर्थको अञ्चल आदि करते सुना है, अतः लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

(५) 'तिनका' सामने रखकर जनाती हैं कि तू, तेरा समस्त ऐश्वर्य और तेरी समस्त रानियाँ ये सब तिनकेके समान तुच्छ हैं और जरा-सी देरमें तिनकेके समान नष्ट हो जायँगी। तुझे मैं तृणके बराबर भी नहीं समझती और यह कि मैं अपने प्राणोंको तृणके समान समझती हूँ, शरीरको तृणवत् त्याग वा भस्म कर दूँगी पर तेरी बात न मानूँगी। (पाँ०, शिला) इत्यादि।

नोट—'*कहति बैदेही*' इति। वाल्मीकिजीने भी यहाँ '*बैदेही*' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'**एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी॥**' (५। २१। ५) अतः यहाँ '*बैदेही*' और '*अवधपति*' से वाल्मीकीयके शब्दोंका भाव ले सकते हैं। वे कहते हैं कि—'**कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया।**' (५। २१। ५) मैं उच्च कुलमें उत्पन्न हुई और पवित्रकुलमें ब्याही गयी। मैं ऐसा गर्हित कर्म कब कर सकती हूँ। वैदेही हूँ अर्थात् विदेहराजकी कन्या हूँ, उनके सुकृतोंकी मूर्ति हूँ, यथा—'*जनक सुकृत मूरति बैदेही।*' तब भला तेरी ओर कैसे देख सकती हूँ, '*बैदेही*' शब्द बड़ा सारगर्भित है, विदेहराजकी कन्यापर प्रलोभनका क्या प्रभाव पड़ सकता है?

टिप्पणी—१ '*कहति बैदेही..........*' इति। (क) '*बैदेही*' से यहाँ 'विदेहपुरकी मर्यादा ग्रहण किये हुए' और '*अवधपति*' से रघुकुलकी मर्यादाको ग्रहण किये हुए रावणसे बोलना सूचित किया। अथवा, भाव कि विदेहकी कन्या हैं, अतः माधुर्यके अनुकूल बोलीं। ☞ न बोलनेसे समझा जाता कि रावणके वचन उन्हें स्वीकार हैं; यथा—'*चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी।*' (२। ३९), '*सीय सकुच बस उतरु न देई।*

सो सुनि तमकि उठी कैकेई॥' (२। ७९), **'मौनं सम्मतिलक्षणम्।'** अतएव वे बोलीं पर तृणको अपनी दृष्टिका लक्ष्य करके उसकी ओटसे बोलीं।

(ख)—*'तृन धरि ओट'* के साथ *'बैदेही'* शब्दका भाव यह है कि रावणने वैभव दिखाया उसपर तृण ओटमें धरकर लक्षित किया कि तेरा सब ऐश्वर्य तृणवत् है; क्योंकि विदेहकी कन्या हैं, विदेहजी त्रैलोक्यकी सम्पत्ति तृणके समान गिनते हैं। तब क्या उनकी कन्यापर कोई प्रलोभन असर कर सकता है? कदापि नहीं।

टिप्पणी—२ *'सुमिरि अवधपति·············'* इति। (क)—रावणने लंकाके विभवका लोभ दिखाया और अपनेसे स्नेह करनेको कहा; अतएव *'अवधपति'* और *'परमसनेही'* का स्मरण करना कहा। भाव यह है कि लंकाके वैभवसे अवधका वैभव अधिक है और रावणसे रामजी अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह आगे कहती हैं—*'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।··········'* । रावण खद्योत है, उसका वैभव खद्योतके प्रकाशके समान है। और, रामजी भानु हैं, अवधका ऐश्वर्य सूर्यके प्रकाशके समान है। भाव कि तुझमें और श्रीरामजीमें तथा तेरे राज्य और श्रीरामराज्यमें जुगुनू और सूर्य तथा जुगुनूके और सूर्यके प्रकाशका-सा अन्तर है। *'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथधन सुनि धनद लजाई॥'* (२। ३२४)—ऐसे अवधके स्वामी हैं और वे ही जीवमात्रके *'परमसनेही'* हैं; यथा—*'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल।'* अत: वे ही स्नेह करने योग्य हैं; यथा—*'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।'* (विनय०)। अत: *'अवधपति परम सनेही'* का स्मरण करना कहा। ☞ मारीचने भी कपटमृग बनते समय श्रीरामजीको ही 'परम प्रीतम' कहा है, यथा—*'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।'* (३। २६); वैसे ही यहाँ *'परम सनेही'* की ही ओर देखना और उन्हींके दर्शनसे सुखी होना यह अपना सिद्धान्त जनाया] पुनः, (ख) *'अवधपति'* के स्मरणका भाव कि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, धर्मके रक्षक हैं, दुष्टोंके दलनकर्ता और सज्जनोंको सुखदाता हैं, अतएव मेरे धर्मकी रक्षा कीजिये, मर्यादाकी रक्षा कीजिये, इस दुष्टसे मुझे बचाइये क्योंकि आप ही मेरे परम स्नेही हैं। (ग) पुनः भाव यह है कि भक्त लोग जो कुछ भी कहते या करते हैं वह सब अपने स्वामीका स्मरण करके तथा उनके ही बलपर कहते-करते हैं। यथा—*'बैठे सिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥'* (१। १००), *'अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहिं दीन्हि असीस।'* (१। ७०), *'करि प्रनाम बोले भरत सुमिरि सीय रघुराज।* (२। २९७), *'पैठा नगर सुमिरि भगवाना।'* तथा यहाँ *'सुमिरि अवधपति············।'* (घ)—☞ पाँड़ेजी *'अवधपति'* का अर्थ 'दशरथ' करते हुए यह भाव लिखते हैं कि श्रीरामजी दशरथजीके परम स्नेही हैं, जैसे उन्होंने श्रीराम-प्रेमके कारण विरहमें शरीर छोड़ दिया वैसे ही 'देहरहित' हो जाऊँगी]।

गुप्तार्थ—'तू तृणमात्र भी मेरी दयाका पात्र नहीं। रामकृपा बिना तू तृणवत् तुच्छ है; अत: अवधपति परम स्नेहीको सुमिर। अवधमें शरीर छूटनेसे मुक्ति होती है और ये उसके स्वामी हैं; उनका स्मरण कर, वे अवश्य तेरा कल्याण करेंगे। यह न डर कि तू पापी है, क्योंकि शरणागतपर परम स्नेह करते हैं। सिवाय उनकी शरणके किसी प्रकार तेरा कल्याण न होगा।'

त्र० चं०—*'अस··········'* आदि चौपाईका २३३ वाँ भेद है *'खल········'* पायकुलक है।

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ* कि नलिनी करइ बिकासा॥ ७॥
अस मन समुझु† कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥ ८॥

* कबहुँक-कोदवराम।

† समुझु—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०, छ०। समुझि—कोदवराम, वंदनपाठक।

नोट—शुद्ध संस्कृत 'नलिनी' शब्दका अर्थ है—'मूल पत्र पुष्प फल-सहित कमलवृक्ष', यथा-'मूलनालदलोत्फुल्ल फलैः समुदिता पुनः। पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्बिकसिन्यादिश्च सा स्मृता।'—(अमरकोश पाद-टिप्पणी। श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' M. A.)।

अर्थ—हे दशमुख! सुन, क्या जुगुनूके प्रकाशसे कभी कमलिनी* विकसित होती है?॥ ७। श्रीजानकीजी पुन: कहती हैं कि ऐसा मनमें समझ। अरे दुष्ट! तुझे रघुवीरके बाणकी खबर नहीं है?॥ ८॥

नोट—१ *'सुनु दसमुख'* इति। *'दसमुख'* शब्दके प्रयोगमें कितना सुन्दर कटाक्ष है। इसमें संकेत है कि तेरा वक्तव्य केवल बकवास है; विचार-शक्ति मानो तेरे दस शीशोंमें नहीं है, तेरे केवल *'दस मुख'* हैं। (लमगोड़ाजी)—*'अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस'* (६। २१) से मिलान कीजिये।

टिप्पणी—१ *'खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी·········'* इति। रावणने जो कहा था कि *'एक बार बिलोकु मम ओरा'* उसीका वैदेहीजी उत्तर देती हैं कि तू जुगुनू है, हमारे नेत्र कमल हैं; अतएव वे कैसे विकसित हो सकें। अर्थात् तेरी ओर ये नेत्र नहीं खुलते। कमलिनीका विकास करनेवाले तो सूर्य ही हैं। वैसे ही मेरे नेत्र रघुनाथजीको देखकर प्रफुल्लित होंगे; मैं उन्हींको देख प्रसन्न हो सकती हूँ। पुन:, भाव कि जबतक भानुका उदय नहीं होता तभीतक जुगुनूका प्रकाश है, (वैसे ही जबतक श्रीरघुनाथजी यहाँ नहीं आते, तभीतक तेरी यह दुष्टता है; फिर न रहेगी)। पुन: जैसे कमलिनीके लिये एक सूर्य ही है, वैसे ही उत्तम पतिव्रताके मनमें अपना पति ही है, यथा—*'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥'* (३। ५) [वा, सीताजी कमलकी लता हैं; उनका मुख कमल है जो वे माता धरणीकी ओर झुकाये हुई हैं। जबतक दिनकर कुलदिवाकरका उदय न होगा, यह नलिनी अपने सिरकमलको ऊपर उठाकर मुखकमलको विकसित न करेगी। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—नलिनीका विकास तो सूर्योदय होनेपर ही होता है, बीचमें उसका विकास हो नहीं सकता, चाहे कोई उसकी एक-एक पँखुरी उखाड़ डाले, वह विकसित हो नहीं सकती। तू जुगुनू है, तेरा प्रकाश ही कितना है, नलिनी चन्द्रके प्रकाशको भी गिननेवाली नहीं। रावण *'सुमुखि'* कहकर अपनी आसक्ति जनाता हुआ सम्बोधन करता है, भगवती 'दशमुख' कहकर अपनी घृणा द्योतित करती हुई सम्बोधन करती हैं।

जुगुनूसे उपमित करनेका कारण कहती हैं कि सूर्यके सामने उसका पता नहीं चलता, इसी भाँति श्रीरामजीके सामने तेरा पता नहीं था, उनके न रहनेपर चमकने आया है।

टिप्पणी—२ *'अस मन समुझु'* इति। (क) भाव कि जानकीजीने ऊपरकी चौपाईमें न साक्षात् रावणको खद्योत और न रामको भानु कहा था; पर इन शब्दोंसे साक्षात् कह दिया। कम प्रकाशकी अवधि खद्योत है और पूर्ण प्रकाशकी अवधि सूर्य। अतएव खद्योत और भानुकी उपमाएँ दीं। पुन: (ख)—भाव कि ऐसा मनमें समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत हूँ और श्रीरामजी भानु हैं। अथवा, ऐसा समझ ले कि सूर्यके प्रकाशसे कमलिनी विकसित होती है, खद्योतसे नहीं। वैसे ही सती स्त्री परपुरुषसे प्रसन्न नहीं होती, अपने पतिको पाकर ही प्रसन्न होती है। रावणको सहस्रार्जुनने जन्तु-विशेष समझकर पकड़ा था। यथा—[*'धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषी।'* (६। २४। १५) इससे *'खद्योत'* की उपमा बहुत फबती हुई है।]

नोट—२ जो भाव वाल्मीकीयमें श्रीसीताजीके वचनोंमें है वही यहाँ *'कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'* में है। अत: उन वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है। **'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥'**; **'अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापते:॥ व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मन:॥·········वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम्॥'** (५। २१। १५, १७-१८) अर्थात् जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़ और किसीकी अनुगामिनी

'नलिन' का अर्थ है 'कमल'। यहाँ श्रीसीताजीके नेत्र कमल हैं। जहाँ-तहाँ कमलपुष्पका ही सूर्यसे विकसित होना सुना जाता है; इससे जान पड़ता है कि 'नलिनी' का अर्थ गोस्वामीजीने कमल लिया है। अथवा, 'नलिनी' से कमलनेत्र युक्त श्रीसीताजी अभिप्रेत हैं, अथवा, श्रीसीताजीका शरीर कमलनालके सदृश कृश हो जानेके कारण 'नलिनी' शब्द दिया गया।

*सारूप निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति अलङ्कार है। यहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त तो यह है कि मैं तुझपर दृष्टि न डालूँगी। सीताजी यह अपना वृत्त कमलिनीपर ढारकर रावणसे कह रही हैं। 'कबहुँ कि' में वक्रोक्ति है। प्रसन्नराघव नाटकमें भी कहा है—'अपि खद्योतभासाऽपि समुन्मीलति पद्मिनी' (अंक ६। २८)। यहाँ रामजी सूर्य, रावण जुगुनू और सीताजीकी कृपादृष्टि वा सीताजी कमलिनी हैं।

नहीं हो सकती वैसे ही मैं राघवकी अनन्य पत्नी हूँ, उनको छोड़ दूसरेकी नहीं हो सकती। मैं एकमात्र उन्हींकी उपयुक्त भार्या हूँ। जैसे ब्रह्मविद्या एकमात्र व्रतस्नायी ब्राह्मणके ही योग्य है। तथा जैसे वनमें बिछुड़ी हुई हथिनी हाथीको पाकर ही आनन्दित होती है, वैसे ही मैं राघवको पाकर ही प्रसन्न हो सकती हूँ।

गुह्यार्थ—(क) मेरी कृपारूपी कमलिनी उसीपर विकसित हो सकती है जिसके हृदयमें रामरूपी सूर्यका प्रकाशरूपी ज्ञान हो। तू मेरी कृपाके योग्य नहीं। वा, (ख)—मेरी कृपारूपी जुगुनूसे तेरा कुलरूपी कमलवन नहीं खिल सकता, वह तो रामरूपी सूर्यसे ही खिल सकता है। अतः *'अवधपति परम सनेही'* को सुमिर, उनकी शरण जा। यथा—**'बन्धं चानिच्छता घोरं त्वयासौ पुरुषर्षभः॥ विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः॥'** (वाल्मी० ५। २१। १९-२०) अथवा, (ग) तेरा प्रणजुगुनूवत् अल्पज्ञानका प्रकाश है, उससे मेरी कृपारूपिणी कमलिनी तेरे लिये विकसित नहीं हो सकती। (घ) *'अस समुझु'*=जो मैंने पूर्व कहा है कि *'सुमिरि अवधपति परम सनेही'* और *'खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'* उसीको मनमें कल्याणका परमोत्तम मार्ग समझ। पुनः, (ङ) *'अस मन समुझु'* का भाव कि मेरा वचन अन्यथा नहीं है, मैं जनककी कन्या हूँ जिनके सम्बन्धमें ब्रह्मर्षि विश्वामित्रका वाक्य है कि *'बचन तुम्हार न होइ अलीका।'* (पं०)

टिप्पणी—३ *'खल सुधि नहिं रघुबीर बान की।'* इति। (क) रघुवीरके बाण खलोंके शालक होते हैं; यथा—*'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥''''''जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक। मुनिपालक खल सालक बालक॥'* (३। १९), *'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।'* (३। २८), *'खल दल दहन चले''''''''''* इत्यादि। अतएव रावणको *'खल'* सम्बोधन किया और कहा कि तुझे उनके बाणोंकी सुध नहीं है जो तू ऐसी बातें करता है। [भाव कि पहिले तुझे सरकारके उन बाणोंकी सुधि रही, जिसने तेरे समकक्ष खर-दूषणको मारा, जिसके न रहनेपर भी, तू उनके आ जानेके भयसे कुत्तोंकी तरह डरता हुआ मेरे पास आया था। यथा—*'सो दसकंठ स्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाईं॥'*, आज तुम्हें वे बाण भूल गये। पर उन बाणोंको तेरा स्मरण है, यथा—*'तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर।'* (वि० त्रि०)] (ख)—शंका—अभी तो राम-रावणसे देखा-देखी भी नहीं हुई तब *'सुधि नहिं रघुबीर बान की'* कैसे कहा? समाधान—रावणने शूर्पणखासे सुना है, यथा—*'खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥'* पुनः, मारीचसे सुना है कि *'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउ छन माहीं।'* पुनः वह स्वयं जानता है, यथा—*'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'*; इसी डरसे तो उसने सूनेमें सीताहरण किया।

सठ सूने हरि आनेहि* मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥ ९॥

अर्थ—अरे शठ! तू मुझे सूनेमें हर लाया। अरे अधम! अरे निर्लज्ज! तुझे लज्जा नहीं आती?॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'निलज्ज'* और *'लाज नहिं तोही'* दोनोंका एक ही अर्थ है। यह लोकोक्ति है; ऐसा प्रायः बोला जाता है कि तुम बड़े निर्लज्ज हो, तुमको लज्जा नहीं आती, ठीक वैसा ही ज्यों-का-त्यों गोस्वामीजीने लिखा है। अथवा, कोप, विषाद या विस्मयकी वीप्सासे पुनरुक्तिमें दोष नहीं होता। यहाँ कोपकी वीप्सा है। (ख) *'सूने हरि आनेहि'* अर्थात् चोरकी तरह छल करके ले आया, रेखा न लाँघ सका, न सन्मुख युद्ध ही कर सका।

टिप्पणी—☞२ (क) *'सठ सूने हरि आनेहि मोही'* इस पदका सम्बन्ध सब वचनोंके साथ है। यथा—भानुके सूनेमें खद्योतका प्रकाश है, इसीसे भानुके सूनेमें तू मुझे हर ले आया। पुनः, रघुवीरके बाणकी तुझे सुध नहीं कि जिनके बाणके भयसे तू मुझे सूनेमें हर लाया। पुनः, अभी जबतक भानुका उदय नहीं होता तभीतक तेरा प्रकाश है। (ख) रावणने रामजीकी निन्दा की और अपनी वीरता कही; इसीसे कुपित होकर उसको खल, चोर, शठ, अधम और निर्लज्ज कहा है, यथा—*'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।*

* आनेसि—भा० भ०, कोदवराम।

क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥' (६। ३१), *'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा।'''''''''रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥'* (६। ३२) [अंगदजीने ये वचन रावणसे कहे हैं, वैसे ही यहाँ श्रीसीताजीने कहे।] **'नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौण्डीर्यमानिना।'** (वाल्मी० ६। १११। ६८)

प० प० प्र०—*'निलज्ज लाज नहिं तोही'* में न द्विरुक्ति है न वाक्प्रचार। भाव यह है कि तू पुरुषार्थकी बड़ी प्रशंसा कर रहा है पर मेरी चोरी करनेमें तुझे लाज न लगी और आज भी वैसा ही निर्लज्ज बना है। मानसके इस प्रसंगमें रावणने श्रीरामजीकी अल्प भी निन्दा नहीं की है, अतः अन्य रामायणोंके संदर्भसे श्रीरामजीकी निन्दा गृहीत समझना ठीक नहीं। कलियुगकी साधारण पतिव्रता भी रावणके समान *'सपदि मानु मम बानी'* आदि दुष्टवासनादर्शक शब्द सुनते ही आगबबूला हो जाती हैं। श्रीरामजीकी निन्दा ग्रहण करनेका अर्थ यह होगा कि रावणकी दुष्टवासना सुननेसे क्रोध नहीं आया और परनिन्दा सुननेसे आया।

नोट—१ वाल्मीकीयमें सूनेमें हर लानेपर रावणको अधम और कुत्ता कहा है। यथा—**'जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले। अशक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै॥ आश्रमं तत्तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः। गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाधम॥''''''''''''''शुना शार्दूलयोरिव॥'** (५। २१। २९—३१) अर्थात् तेरे जनस्थानके सब राक्षस जब मारे गये तब तुझसे कुछ करते-धरते न बना। अरे अधम! तू कुत्तेकी तरह जब दोनों नरसिंह आश्रममें न थे मुझे चुरा लाया। अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—**'राघवाद्विभ्यता नूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम्। रहिते राघवाभ्यां तु शुनीव हविरध्वरे॥ हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात्॥'** (५। २। ३२-३३) अर्थात् निश्चय ही तूने राघवके भयसे भिक्षुकका रूप धारण किया था। जैसे कुतिया यज्ञशालासे हवि लेकर भागे, वैसे ही दोनों राघवोंके न रहनेपर तू मुझे हर लाया, इसका फल शीघ्र मिलेगा।

नोट—२ *'रघुबीर बान'* के भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं, पर वे केवल व्यासोंके वाग्विलास हैं। यथा (१) रघुवीरकी बानि कि भक्तके अपराधको नहीं सह सकते, अपना अपराध भले ही क्षमा कर देते हैं, अम्बरीषका अपराध करनेके कारण दुर्वासाकी क्या दशा हुई? (२) रघुवीर रघुजीके वीर (पुत्र) अजके बाणकी सुध नहीं है कि जिस बाणसे भयभीत होकर तू लंकामें स्त्रियोंके बीचमें छिप रहा था। (३)—रघुवीर लक्ष्मणने जो बाणसे रेखा खींच दी थी जिसे लाँघनेका साहस तू न कर सका, यती बना। इत्यादि।

ब्र० चं०—*'सठ''''''* पायकुलक, *'अधम''''''* नयमालिनी है।

नोट—३ *'सठ सूने हरि आनेहि''''''* इति। इसमें ध्वनिसे भाव यह भी निकलता है कि मुझे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी अनुपस्थितिमें लाया और यहाँ सबोंसे यह प्रकट किया कि मैं दोनोंको जीतकर लाया; यह कलई तेरी आज मैं प्रकट किये देती हूँ। परस्त्रीको चुराना अधर्म है, यथा—*'कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी परत्रिय कृत चोरी॥'* (६। २२); अतः अधम कहा। और भय, भेदकी बातें कहकर अपनी बारम्बार बड़ाई करता है; इससे निर्लज्ज कहा; यथा—*'अब पति मृषा गाल जनि मारहु।''''''तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी।'* (६। ३५)

गुप्तार्थ—खलका भाव यहाँ अल्प ज्ञानवाला है। रघुवीरकी बानकी सुध नहीं है कि *'नीचहू से करत प्रीति सुपेमहू पहिचानी'* और *'देखि दोष कबहुँ न उर आने'* इत्यादि। ये सब प्रकारके वीरोंमें श्रेष्ठ हैं, अपना बाना नहीं छोड़ सकते। वे अवश्य दया करेंगे। पुनः, जिस बाणसे मरकर भव पार होनेकी तूने प्रतिज्ञा की है, क्या वह भूल गया? उसीको स्मरण कर, उसीपर दृढ़ रह। यदि रावण कहे कि मैं उस प्रतिज्ञाको छोड़कर आपसे ही उद्धार चाहता हूँ, उसपर कहती हैं कि—*'सठ सूने हरि आनेहि''''''।'* अर्थात् तूने बड़ी मूर्खता की। मुझे हर लाया, इससे अपने कार्यसिद्धिमें अधम (मूर्ख) निकला। इस अपने कार्यनाशक अधमतापर लज्जित नहीं होता, मुझसे बार-बार कहनेमें लज्जा नहीं लगती; अतएव निर्लज्ज है। उनके सूनेमें न लाता तो तुरत प्रतिज्ञा पूरी हो जाती। पुनः, *'सूने हरि'* अर्थात् क्लेश हरनेवाले राघवके ज्ञानसे तेरा हृदय शून्य है, इसीसे तू मुझे यहाँ अकेले लाकर मुझसे कृपा चाहता है, बिना उनके मेरी कृपा नहीं हो सकती। यह उपदेश है कि दोनोंकी शरणागति बिना जीवका कल्याण नहीं। (म० त० सु०)

दो०—आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥ ९॥

अर्थ—अपनेको जुगुनूके समान और रामचन्द्रजीको सूर्यके समान सुनकर और उनके कठोर वचनोंको सुनकर रावण तलवार निकालकर अत्यन्त खिसियाया हुआ बोला॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ सुनना दो बार लिखा—*'आपुहि सुनि खद्योत सम'* और *'परुष बचन सुनि'*। कारण कि जानकीजीने दो वचन कहे। एक तो *'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा……'*, दूसरे *'सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम……।'* पहलेके सम्बन्धमें *'आपुहि सुनि……'* पूर्वार्द्ध कहा और दूसरेके सम्बन्धमें *'परुष बचन सुनि……'* उत्तरार्द्ध कहा। (ख) *'अति खिसियान'* का भाव कि *'खद्योत सम'* सुनकर *'खिसियान'* और *'परुष बचन'* सुनकर *'अति खिसियान'*। खिसियानेका कारण यह कि कुछ उत्तर न बन पड़ा; इसी खिसियानको मिटानेके लिये तलवार निकालकर मारनेकी धमकी दी। (ग) रावण सदा अपनी न्यूनता और शत्रुकी प्रशंसा सुनकर कुपित होता है, वैसे ही यहाँ क्रोधित हुआ। यथा—*'आन बीर बल सठ मम आगें। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागें॥'* (६। २९), *'हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥'* (६। २८), *'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।'* (६। २५) [वीर पुरुष अपना अपमान सह भी लेता है पर रिपुका उत्कर्ष नहीं सह सकता। यथा—*'रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥'* (५। ४०) अतः श्रीरामजीको *'भानु'* समान सुनकर वह न सह सका।]

नोट—१ यह 'वानर दोहा वैश्या' छन्दभेद है। (ब्र० चं०)

नोट—२ रावणको *'खद्योत'* तो प्रकट कहा, यथा—*'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।'* श्रीरामजीको *'भानु'* प्रकट नहीं कहा, क्योंकि वे प्रत्यक्ष सामने नहीं हैं; अपनेको *'नलिनी'* प्रत्यक्ष कहकर उनको आशयसे *'भानु'* कहा।

प० प० प्र०—सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे सिद्ध होता है कि म्यानसे तलवार निकालनेमें क्रोध नहीं है, बोलनेमें ही क्रोध है। हेतु इतना ही है कि सीताजीके प्रार्थनाबलसे श्रीरामजी शीघ्र आ जायँ।

गुप्तार्थ—मा० त० सु०—कृत अर्थ—'अपने उद्योगको जुगुनूके समान सुन और श्रीरामकृपाको सूर्यवत् सुन अपने उद्योगकी तुच्छताका सूचक परुष वचन जान खड्ग निकाल क्रोधित हो बोला। वहाँ कर्त्तारूपी रावणके उद्योगरूपी क्रियाका फल नहीं होनेसे अनर्थरूपी क्रोध जागा। परुष=अपने पुरुषार्थको तुच्छ दिखानेवाला रूखे।'

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥ १॥
नाहिंत सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी॥ २॥

अर्थ—हे सीते! तुमने मेरा अपमान किया है। मैं तेरा सिर कठिन (जिसका वार खाली न जाय; कठोर, भयंकर) कृपाण (चन्द्रहास) से काट डालूँगा॥ १॥ नहीं तो शीघ्र ही मेरे वचन मान ले। हे सुमुखि (सुन्दर मुखवाली)! नहीं तो (तेरे) जीवनकी हानि होगी (तेरे प्राण जायँगे)॥ २॥

नोट—१ *'सीता तैं मम……'* इति। *'सीता'* सम्बोधनका भाव कि तेरे नामका अर्थ है शीतल करनेवाली एवं शीतल, तेरे वचन शीतल होने चाहिये थे सो न होकर कठोर और तप्त करनेवाले हैं।

टिप्पणी—१ *'मम कृत अपमाना……।'* इति (क) अवज्ञा करना और कठोर वचन बोलना ही अपमान है। अपमान मृत्युके तुल्य है, यथा—*'सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (२। ९५), **'सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।'** (गीता २। ३४) राजाका अपमान करना उसे मारनेके समान है, इसीसे वह सिर काटनेको कहता है। भाव यह कि तुमने हमें मरा-सरीखा कर दिया, अतएव उसके बदलेमें मैं तुम्हारा सिर काटूँगा। (ख) *'कटिहौं'* इति। भारी सजा राजा अपने सम्मुख अथवा अपने हाथसे देता है, इसीसे *'कटिहौं'* कहा, अर्थात् अपने हाथसे काटूँगा। (ग) पुनः, किसी-किसी मुनिका मत है कि प्रथम अपराध सुनाकर तब दण्ड देना चाहिये; अतः रावणने पहले *'तैं मम कृत अपमाना'* यह अपराध कहकर तब *'कटिहौं'* दण्ड देना कहा। (घ) *'कठिन कृपाना'* से चन्द्रहासनामक तलवार अभिप्रेत है जैसा

आगे स्पष्ट किया है—'*चंद्रहास हरु मम परितापं।*'

टिप्पणी—२ '*नाहिंत सपदि मानु मम बानी*·········' इति। (क) '*सपदि मानु*' शीघ्र मान लेनेको कहा, क्योंकि राजाका अपमान करनेवालेका वध शीघ्र किया जाता है, यथा—'*सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥*' (५। २४) (ख) '*मानु मम बानी*' इति। पहले सब साहिबी देता था, तब अपमान किया। अब अपमानके बदलेमें अपनी बातोंकी सिद्धि चाहता है। (ग) पहली बार '*सुमुखि सयानी*' विशेषण दिये थे, परंतु उन्होंने अपमान किया। इससे अब केवल '*सुमुखि*' सम्बोधन किया, '*सयानी*' न कहा। (घ) '*होति जीवन हानी*' अर्थात् हमारे वचन न माननेसे समस्त ऐश्वर्यकी हानि हुई और अब जीवनकी भी हानि होती है। अथवा, वाणी मान लेनेसे अपमान करनेका अपराध क्षमा हो जायगा और न माननेसे प्राण जायँगे—'**आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रवध उच्यते**' तुमने हमारा वध तुल्य अपमान किया, हम तुम्हारा वध करेंगे।

नोट—२ '*सुमुखि होति नत जीवन हानी।*' इति। वाल्मीकीयमें भी यहाँ '*वरानने*' सम्बोधन किया है, जिसका अर्थ है '*सुमुखि*'। भाव यह कि तेरा सुन्दर मुख देखकर मुझे तेरे ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न हो जाती है, इसीसे मैं नहीं मारता नहीं तो ऐसे कठोर वचनोंपर तुझे मार डालना ही योग्य था। अब भी समझ ले, यथा—'·········**स्नेहश्च किल जायते॥ एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने। वधार्हामवमानार्हां**········· ॥ **परुषाणि हि वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम्। तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः॥**' (५। २२। ४—६)

नोट—३ '*सीता तैं*······*बानी*'। और '*सुमुखि*·········*।*' द्रुतपा है (ब्र० चं०)।

गुप्तार्थ—१ (क) '*सीते*' (अर्थात् तेरा स्वभाव त्रयतापसे तपे हुएको शीतल करनेवाला है) यह जानकर मैं तेरी शरण आया, पर तूने मुझे स्वीकार न किया, अतः तब अर्थात् तेरे इस कारणसे मैं अपना सिर अभी काट डालूँगा। (ख)—'*सुमुखि*' का भाव कि तेरे मुखसे तो सर्वदा शरणागतोंके स्वीकारहीके वचन निकलते आये हैं, यथा—'*जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाय*'। यहाँ सयानी विशेषण इससे नहीं दिया कि पूर्वकृत कार्य नहीं स्मरण कराना है। २—'*सुमुखि*' के भाव—(क) तुम्हारा सुन्दर मुख है, इसकी शोभा यही है कि हमसे हँसो-बोलो। (ख) बहुत कालसे मुझपर विमुख (अप्रसन्न, रूखी या रूठी) हो अब '*सुमुखि*' अनुकूल हो।

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर॥ ३॥
सो भुज कंठ कि तव असिघोरा। सुनु सठ अस प्रवान* पन मोरा॥ ४॥

अर्थ—(श्रीसीताजीने कहा कि) हे दसकन्धर रावण! श्याम कमलकी माला या श्रेणीके (कान्तिके) समान सुन्दर और हाथीकी सूँड़के समान (बलिष्ठ और चढ़ाव-उतारकी जो) प्रभुकी भुजा है या तो वे ही भुजा मेरे गलेमें लगेंगी या तेरी भयंकर तलवार ही। रे शठ! सुन, मेरा ऐसा प्रमाण प्रण (सत्य प्रतिज्ञा है)॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ प्रभुकी भुजाओंकी उपमा नीलकमलके नामकी रामायणभरमें और कहीं नहीं आयी है। सर्प, केशरी और करिकरकी उपमाएँ दी गयी हैं, यथा—'*भुजग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई*' (वि० ६२), '*अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥*' (१। ३२५), '*मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥*' (३। १८), '*करिकर सरिस सुभग भुजदंडा*' (१। १४७)। राजा रघुराज सिंह लिखते हैं कि रावण किसी ऋषिके स्थानपर गया था और उनके तालाबके सब कमल नष्ट कर डाले थे तब ऋषिने उसको शाप दिया कि तुझे श्यामकमलका दर्शन जब होगा तब तेरी मृत्यु हो जायगी। श्याम-सरोजके देखनेसे रावणका नाश है; इसीसे यहाँ श्यामसरोजदामके समान कह रही हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि इन भुजाओंके दर्शनसे तेरा नाश होगा, वे सुन्दर बलवान् भुजाएँ तुझे मारकर मेरा आलिङ्गन करेंगी। इसी भावको सूचित करनेके लिये '*प्रभु*' कहा। [मानसमयंक और अभिप्रायदीपकमें भी कथा है कि एक

* प्रवान पन-भा० दा०, छ०, १७०४, कोदवराम। प्रवान मन—१७२१, १७६२। प्रनामपन-ना० प्र०।

बार दुर्वासा ऋषि श्यामकमलपर बैठे ध्यान कर रहे थे। रावणने कमलका नाल काट दिया। ऋषि डूबने लगे तब उन्होंने ध्यान करके जान लिया कि यह रावणकी करनी है और शाप दिया कि श्यामकमलके दर्शनसे तेरी मृत्यु होगी। उसीकी ओर संकेत करके *'स्याम सरोज दाम'* की उपमा दी है। ☞यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। 'दाम' का अर्थ 'माला', 'समूह', 'श्रेणी' है। इसकी उपमा देकर अपार सौन्दर्य सूचित किया।]☞ प्रसन्नराघव (६। ३०) और हनुमन्नाटक (१०। १६) में भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः। रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्तेर्दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः॥**' अर्थात् अरे राक्षस! मेरे कण्ठकी सीमाको नीलकमलके सदृश कान्तिवाले श्रीरामचन्द्रजीके भुजदण्डों अथवा तेरे कठोर निर्दयी कृपाणके अतिरिक्त दूसरा कोई स्पर्श नहीं कर सकता, अतएव तू शान्त हो जा, शान्त हो जा, व्यर्थ बकवाद करनेसे क्या लाभ? ☞ इस श्लोक और मानसके *'स्याम सरोज दाम सम सुंदर।'* में भेद केवल यह है कि श्लोकके *'दाम' 'प्रभु'* और *'करिकर'* नहीं हैं। रघुपतिकी जगह यहाँ *'प्रभु'* और 'दण्ड' की जगह *'करिकर'* शब्द विशेष भावगर्भित हैं।

नोट—१ *'स्याम सरोज दाम सम सुंदर'* को केवल *'प्रभु'* का ही विशेषण भी मान सकते हैं अर्थात् उनका सारा शरीर श्यामकमलसमूहके समान कान्तिमान् और कोमल है तथापि उनकी भुजाएँ हाथीकी शुण्डके समान बलिष्ठ हैं, यथा—*'काम कलभकर भुजबल सींवा।'* (१। २३३) और उसे भुजका भी विशेषण मान सकते हैं क्योंकि उसीसे यहाँ प्रयोजन है जैसा आगेके *'सो भुज'* से स्पष्ट है। दो विशेषण देकर जनाती हैं कि हमारे लिये वे *'स्याम सरोज दाम सम'* कोमल और सुन्दर हैं और तेरे दसों ग्रीवोंको काट डालनेके लिये *'करिकर सम'* बलिष्ठ हैं।

नोट—२ *'प्रभु भुज'* और *'दसकंधर'* शब्द देकर जनाती हैं कि प्रभुभुज दो ही हैं फिर भी दस ग्रीवावाला *'दसकन्धर'* मुझे भयभीत नहीं कर सकता, चाहे बीस *'असि'* क्यों न लिये हो। ☞कुशल कवि जड़ियाकी तरह एक-एक शब्द ऐसा चुन-चुनकर रखता है कि हम उसे बदल नहीं सकते। यदि ऐसा साहस करें तो रचना ही बिगड़ जाय। (लमगोड़ाजी)

नोट—३ यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। *'प्रभु भुज'* उपमेय, *'स्याम सरोज दाम'* और *'करिकर'* उपमान, *'सम'* वाचक और सुन्दरता धर्म है।

टिप्पणी—२ (क) *'प्रथम सो भुज कंठ'* कहा क्योंकि यह बात निश्चय ही होगी, रही तलवार सो उपस्थित है इससे फिर उसको कहा। रामविरह व्याकुल किये हुए है; इससे वधके लिये बारंबार तलवारसे प्रार्थना करती हैं। पुनः, विरहकी शान्ति मृत्युसे होती है या संयोगसे, इसीसे *'भुज'* और *'असि'* दोनोंको कहा। (ख) *'सो भुज कंठ'* अर्थात् दूसरेकी भुजा हमारे कण्ठका स्पर्श नहीं कर सकती। रघुनाथजीकी भुजा ही कमलकी माला-सम मेरे कण्ठमें शोभा देगी। अथवा, तेरी तलवार कण्ठमें लगनेसे शोभा देगी। लोग कहेंगे कि यह पतिव्रता धन्य है कि तलवारसे मर भले ही गयी पर इसने पराये पतिको अङ्गीकार न किया, इससे भुजा और तलवारके लगनेकी समता की। अपने कण्ठके सम्बन्धसे भुजाको कोमल कहा और भुजाओंकी जोड़में असिको घोर कहा। दोनोंके लगनेसे दुःख दूर होगा, इससे दोनोंको कहा।

नोट—४ (क) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'महारानीजीने पूर्व रावणको खद्योतसम कहा है और शठ भी, तब यहाँ आर्तवचन न कहेंगी। इसलिये साधारण अर्थ अच्छा नहीं है। खण्डान्वयव्यञ्जनासे ठीक अर्थ सिद्ध होता है—श्यामसुन्दर ऐसे प्रभु जिनकी भुजा सूँड़-सदृश है सोई भुज मेरे कण्ठ लगेगी और उस भुजाकी घोर असि तेरे कण्ठ लगेगी।' यहाँ 'कि' संदेहात्मक नहीं हैं। कि=की। बैजनाथजीने भी यही अर्थ रखा है। (ख) पाँड़ेजी और मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—'यहाँ *'तव'* शब्द श्लिष्ट है। 'कितव'=उन्मत्त, धूर्त, मूर्ख। यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा कि—'हे कितव! मेरी बात सुन। श्याम-कमल-श्रेणी-सम रघुनाथजीकी सुन्दर भुजा मेरे कण्ठ लगेगी और बलयुक्त हाथीकी शुण्डसम भुजाका घोर खड्ग तेरे कण्ठमें लगेगा।' [गo प्र० स्वामीजी इस प्रकार अर्थ करते हैं—नील कमलोंके हारके समान

कोमल सुगन्धित और दीर्घ तथा हाथीके शुण्डके समान गठीली प्रभुकी भुजा मेरे जिस कण्ठमें पड़ी है, क्या उसी कण्ठमें तेरी तलवार पड़ेगी (कदापि नहीं)।' (घ) गुप्तार्थ—यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। भाव कि तेरा पन जो प्रभुके सरसे मरनेका है और राघवका पन जो निशाचरहीन करनेका है—दोनों रहेंगे, तू धीर धर। शठ कहा, क्योंकि अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहता।

टिप्पणी—३ *'अस प्रवान पन मोरा'* अर्थात् तेरा प्रण प्रमाण नहीं है; क्योंकि मैं तेरे सम्मुख दृष्टि न करूँगी; और मेरा प्रण प्रमाण है क्योंकि प्रभुभुज मेरे कण्ठमें लगेंगे या तेरी तलवार लगेगी, दोमेंसे एक अवश्य लगेगी।

नोट—*'स्याम सरोज……'* ११७७ वाँ भेद, *'प्रभु……'* १२२० वाँ भेद है, *'सो भुज……भारा……'* पायकुलक है।

चंद्रहास हरु* मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥ ५॥
सीतल निसित बहसि† बरधारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥ ६॥

शब्दार्थ—**निसित**=पैनी, तीक्ष्ण। **बहसि**=बहती हो; धारण करती हो। **भारा** (भार)=बोझ, भारी।

अर्थ—(रावणसे इतना कहकर अब श्रीसीताजी चन्द्रहाससे कहती हैं—) हे चन्द्रहास! रघुपति-विरहाग्निसे उत्पन्न मेरे परिताप (अत्यन्त जलन या दुःख) को हरण कर। (अर्थात् रावणको यह उत्तर देती हैं कि तेरी तलवारसे मारा जाना मुझे स्वीकार है, पर तेरा वचन मानना अङ्गीकार नहीं है) हे चंद्रहास, तू शीतल, तीक्ष्ण और श्रेष्ठ धारा बहाती है, तू मेरे दुःखके भार (वा, भारी दुःख) को हर ले॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ *'चंद्रहास हरु मम परितापं'* इति। (क) चन्द्रहास और प्रभुकी भुजा दोनों ही प्रतीक्षामें हैं, इससे चन्द्रहाससे दुःख हरनेको कहा। रावणसे ताप हरनेको न कहा क्योंकि रावण तो तापदाता है, तापहर्त्ता नहीं; और चन्द्रहास तापहर्त्ता है। (ख) *'हरु परितापं'* अर्थात् इसी समय हर ले। इस कथनका भाव यह है कि रावणने वाणी न माननेपर तेरे चलनेका एकरार किया है, यथा—*'नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी॥'*, मैं वाणी नहीं मानती हूँ, तब तू क्यों विलम्ब कर रही है, शीघ्र मेरे कण्ठसे लगकर मेरा ताप क्यों नहीं हर लेती? रघुपति-विरह तलवारसे अधिक असह्य और कठिन है, यथा—*'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही॥'* (यह दशरथजीने कैकेयीजीसे कहा है) अतएव मरनेको तैयार हैं, पर विरह नहीं सह सकतीं।

टिप्पणी—२ (क) चन्द्रहासका भाव कि चन्द्रमा तापहारक होता है। जैसे अशोकके प्रति कहा है कि *'सत्य नाम करु हरु मम सोका'* वैसे ही यहाँ चन्द्रहाससे कहा कि मेरा दुःख दूर कर। (ख) पहले रावणने यह जो कहा कि *'कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना'*, इसीपर सीताजी अब खड्गसे कहती हैं कि तू रावणकी आज्ञा तो सुन ही चुका, अब क्यों देर करता है? शीघ्र मेरा सिर काटकर दुःख दूर कर। चन्द्रहासका अर्थ चन्द्रकिरण भी होता है। चन्द्रकिरण ताप हरता है, यथा—*'सरदातप निसि ससि अपहरई।'* अतः उससे परितापहरणको कहा।

नोट—१ *'चन्द्रहास'* रावणके महादीप्तिमान् खड्गका नाम है। काष्ठजिह्वादेवतीर्थ स्वामीजी लिखते हैं कि यह खड्गकी एक जाति है जो अर्द्धचन्द्राकार होती है। वाल्मीकीयमें लिखा है कि रावणपर प्रसन्न होकर उसके माँगनेपर शिवजीने अपना महादीप्तिमान् खड्ग दिया जिसका नाम चन्द्रहास है, यथा—'**एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शङ्करः॥ ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्।**' (७। १६। ४३-४४) पुनः चन्द्रहास खड्गका पर्याय भी है, यथा—'……**खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्॥**' (अमरकोश)

* हर—भा० दा। † निसित बहसि—रा० प्र०, कोदवराम। निसि तव असि—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०। 'निसि तव असि' पाठका अर्थ होगा—'हे तलवार! तेरी श्रेष्ठ धारा शीतल रात्रि (के समान) है। भावार्थ यह होगा कि—चाँदनी रातसे दिनका ताप मिटता है। तेरी धार शीतल निशि अर्थात् चाँदनी रात्रिके समान है, अतः वह अवश्य मेरे परितापको हरण करेगी। 'हर' पाठमें यह खूबी बताते हैं कि वह श्लिष्टपद होकर दीपदेहली न्यायसे दो अर्थ देता है—हर (महादेव) और हरु (हरण कर)।

* 'पाठपर विचार' *

अधिक प्रतियोंमें *'सीतल निसि तव असि'* पाठ है। प्राचीन प्रतियोंमें अक्षर अलग-अलग लिखनेकी रीति है। *'निसि तव हसि'* और *'निसित बहसि'* दोनों पढ़ सकते हैं। *'हसि'* का अर्थ न लगनेसे *'असि'* हो गया हो। रामायणपरिचर्यामें भी *'निसित बहसि'* है। यह चौपाई प्रसन्नराघव नाटक अङ्क ६ श्लोक ३३ की छाया-सी जान पड़ती है। श्लोक यह है—'**चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्। त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारया वहसि शीतलमम्भः॥**'

इस श्लोकका पूर्वार्ध अर्थात् चौपाईके पूर्वार्ध अर्थात् अर्धाली (५) से पूर्णरूपसे मिलता है। श्लोकके उत्तरार्धका '**त्वं हि धारया वहसि शीतलम्**' ही चौपाईका *'सीतल बहसि धारा'* है और '**कान्तिजितमौक्तिकचूर्णम्**' का भाव चौपाईके *'बर'* शब्दमें दे दिया गया है। उत्तरार्धका अर्थ है—'तू अपनी धारासे मोतीके चूर्णकी कान्तिको जीतनेवाले शीतल जलको धारण करती है।

यहाँ नदीका रूपक है। नदीकी धारा शीतल और तलवारमें भी धार। जल अग्निको बुझाता है, तलवारकी धारसे विरहाग्नि बुझेगी। यह सादृश्य है। यह पाठ '**प्रसन्नराघवनाटक**' के अनुकूल है, भाव भी उत्तम है। अतएव हमने यही पाठ रखा है। गौड़जी, लाला भगवानदीनजी एवं पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी भी मुझसे सहमत हैं।

नोट—२ मानसमें *'रघुपति बिरह अनलसंजातं'* और नाटकमें '**रामचन्द्र बिरहानलजातम्**' है, इत्यादि। मानसमें शब्द क्यों बदले गये? उत्तर सुनिये—श्रीरघुनाथजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं और श्रीसीताजी पतिव्रताशिरोमणि। अवधवासी उनको युगल सरकार कहते हैं। गोस्वामीजीके चर्मचक्षु और हृदयचक्षु दोनोंके सामने रामायणरचनाके समय युगलमूर्ति विराजमान रहती थी और वह उनकी लेखनीसे मर्यादाके प्रतिकूल कोई बात निकलने नहीं देती थी। आजकलकी प्रथाके अनुसार स्त्रियोंके लिये पतिका नाम लेना बड़ा दोष है। इसलिये श्रीमुखसे 'रामचन्द्र' न कहलाकर 'रघुपति' कहलाया गया। उपर्युक्त श्लोककी तीसरी पंक्तिमें '**कान्तिजितमौक्तिकचूर्णम्**' है, वह विशेषण छोड़ दिया गया है। अब बचा '**त्वं हि धारया वहसि शीतलमम्भः।**', जिसका '**अम्भः**' छोड़कर और अन्वय बदलकर अर्थ हुआ *'सीतल बहसि धारा।'* पर इससे चौपाईका पद पूरा नहीं होता। इसलिये *'सीतल'* और *'बहसि'* के बीचमें तलवारका परम योग्य विशेषण *'निसित'* (=पैनी; तेज) डाल दिया गया और *'धारा'* के आगे *'बर'* जोड़ दिया गया। *'बर'* में *'कान्तिजित.........'* वाला भाव भी ग्रहण कर लिया गया।

नोट—३ अन्य टीकाकारोंके भावार्थ ये हैं—(क) श० सुं०—'यहाँ, हे चन्द्रहास! ऐसा सम्बोधनकर तलवारसे सीताजीका कहना यह अर्थ अनुचित है; क्योंकि रावणकी बातोंसे संगति अच्छी बैठती है। वा, हे चन्द्रहास खड्ग! तू रामविरहसे उत्पन्न मेरे परितापको मिटा दे अर्थात् रावणका शिरच्छेद कर। वा, रामविरहाग्निसे उत्पन्न मेरा संताप तेरे चन्द्रहासके प्रतापको हर लेगा, अर्थात् यह खड्ग मेरा कुछ न कर सकेगा'—(यह भाव करुणासिंधुजीसे लिया हुआ है)।

(ख) वीरकवि—रावणसे न कहकर चन्द्रहाससे निवेदन करना 'गूढोक्ति अलंकार' है। प्रस्तुत कथन रावणसे है, तलवारका वृत्तान्त अप्रस्तुत है। यह 'सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार' है।

(ग) मा० त० सु० में यह अर्थ है—'हे हर (शिवजी) के चन्द्रहास' वे लिखते हैं कि—(१) 'सीताजीने कहा था कि वह भुज मेरे कण्ठमें और घोर असि तेरे कण्ठमें पड़ेगी, उसी उक्तिको यहाँ स्पष्ट कर रही हैं। यहाँ भुजका अभाव है, इसलिये भुज नहीं कहा, खड्ग रावणके हाथमें विद्यमान है, उससे अपना सम्बन्ध जनाती हुई कहती हैं। *'हर चन्द्रहास'* का भाव कि तू शंकरजीका है और उनसे मेरा भी सम्बन्ध है—*'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'*। अतः मेरा दुःख हरण कर। *'हर'* देहलीदीपकन्यायसे दोनों अर्थका प्रकाशक है। (२) *'सीतल निसि तव असि बर धारा'* में असिका अर्थ *'अस्ति'* है, अर्थात् मेरे तापको नाश करनेके लिये तेरी धारा श्रेष्ठ है। (३) गुप्तार्थ—इन वाक्योंसे, श्रीकिशोरीजीने रावणको यह दिखलाया कि तुझसे मेरा दुःख भारी है।'

(घ) प० प० प्र०—'हे चन्द्रहास (अर्थात् चन्द्रतेजविनिन्दक हास्यवाले) रघुपति! अपने विरहानलसे उत्पन्न मेरे परितापको हर लीजिये।' इस प्रार्थनासे भगवान्‌की माया मन्दोदरीमें प्रवेश करके सीताजीको बचा लेती है।

नोट—४ *'हरु'* दो बार आया है—*'हरु मम परितापं'* और *'हरु मम दुख भारा।'* प्रथम बार नामके सम्बन्धसे कहा कि तेरा चन्द्रहास (चन्द्रकिरण) नाम है, अत: मेरे परितापको हर और दूसरी बार रूप अर्थात् शीतल धारावत् होनेसे हरनेको कहा। अथवा, विषादके वचन होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। (रा० बा० दा०)

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा॥ ७॥

अर्थ—(ये) वचन सुनते ही फिर मारने दौड़ा (अर्थात् मारनेपर उद्यत हुआ) तब मन्दोदरीने नीति कहकर समझाया बुझाया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'सपदि मानु मम बानी।'''''''* रावणके इस वचनको न माना; अतएव वह मारने दौड़ा, पहले मारनेको कह चुका था—*'कटिहौं तव सिर'''''''*। अत: अब *'पुनि मारन धावा'* कहा। (ख) धावासे सूचित होता है कि रावण दूर था*। (ग) रावण अनीति करता है। मन्दोदरी नीति कहती है। अतएव यहाँ रावणसम्बन्धी मन्दोदरी नाम न दिया वरन् पितासम्बन्धी नाम कहा। मयकी यह कन्या है। (घ) *'कहि नीति बुझावा'* का भाव कि और किसी रीतिसे कहकर समझानेकी राह इस समय न थी। क्योंकि राजाका अपमान किया और आज्ञा भी भङ्ग की। नीति कहकर समझानेका रास्ता अभी है, क्योंकि स्त्रीका वध न करना चाहिये; जैसे जब कंस देवकीका वध करने लगा तब वसुदेव-देवकीने नीति कहकर समझाया था। [स्त्रीहत्या महापातक है, यथा—'**बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मत:। शरणागतहन्तॄंश्च नारीघ्नांश्च न संवसेत्॥**' (मनुस्मृति) अर्थात् बालकका वध करनेवाला, कृतघ्न, शरणागत एवं स्त्रीके मारनेवालोंका संग न करे, चाहे धर्मपूर्वक वे प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो गये हों।]

नोट—१ *'मयतनया'*। मय दानव, दैत्य एवं राक्षसोंका विश्वकर्मा है। उसकी कन्या मन्दोदरी है। रावण राक्षस भले ही हो, पर यह तो दानव-कन्या होती हुई भी दैवी सम्पत्तिसे पूर्ण है, प्रात:स्मरणीय मानी गयी है। यह नीति जानती है तभी तो बराबर नीतिका उपदेश करती है, यथा—*'बोली बचन नीतिरस पागी।'* (५। ३६) तथा यहाँ प्र० स्वामीका मत है कि *'मयतनया'* शब्द देकर जनाया कि दानव-कन्या होकर भी उसने वह काम किया जो उसके कुल और जाति-स्वभावके विरुद्ध है।

नोट—२ यहाँ भी ईश्वरताने काम किया। भक्तकी रक्षा भगवान् कैसे करते हैं! वह मन्दोदरी जिसे रावण सीताजीकी दासी बनानेकी प्रतिज्ञा करता है वही उनको बचावे! उसे तो रावणका बर्ताव देखकर उनके मारे जानेमें बहुत शीघ्रता करनी चाहिये थी। (रा० शं०)

नोट—३ समझाना यह भी हो सकता है कि—जो स्त्री अपनेको नहीं चाहती उसकी चाह करनेवाले पुरुष सदा संतप्त ही रहा करते हैं, यथा—'**अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते**।' (वाल्मी० ५। २२। ४२) प्रीति उससे करे जो अपनेसे प्रेम करे। श्रीजानकीजी पतिव्रता हैं तब उन्होंने जो कहा वह योग्य ही है, उनका अपराध क्या? इत्यादि।

वि० त्रि०—रावण स्त्रीजनसे परिवेष्टित वहाँ आया था, अत: बहुत सन्निकट नहीं था। इतनी दूरीपर था जहाँसे बातचीत हो सके। मारने दौड़ा अर्थात् मारनेका उपक्रम किया जैसे *'सुनत निसाचर मारन धाए'* में मारनेका क्रम ही अर्थ होगा। यदि दौड़ा होता तो मन्दोदरीको नीति कहनेका अवसर नहीं मिलता। जैसे ही उसने दौड़नेका उपक्रम किया, वैसे ही मन्दोदरीने नीति समझाया, यथा—*'त्यागहु दीना मानुषी कृपिणा कृशा दुखारि। हैं केतिक गंधर्व सुर किन्नर नागकुमारि॥ अनुरागिनि तुम पर सदा, मदमाती सुकुमारि। काम कला महँ कुशल अति तिन कहँ भजौ सुरारि॥ कान कहैं दुखिया तिया, तन की ममता त्यागि। ताहि*

* मा० त० सु०—(क) यहाँ 'धावा' पदका अर्थ दौड़ आना नहीं है, क्योंकि जिस वृक्षके नीचे जानकीजी रहती थीं उसी वृक्षपर श्रीहनुमान्‌जी थे और नीचे रावण था। यथा—'तेहि अवसर रावन तहँ आवा।' तो समीपस्थ पुरुषका दौड़ आना कैसे सम्भावित हो सकता है? उसका यहाँ ठीक अर्थ यह है—(ख) गुप्तार्थ—आत्मशुद्ध्यर्थ अति संनिकटमें गमन किया अर्थात् शरणागति चाही। क्योंकि धाव धातुका अर्थ गति और शुद्धि है। मन्दोदरीने नीति समझाया कि इतनी शीघ्रता न करो।' (नोट—पर 'धावा' पद बहुत ठौर आया है। वहाँ ऐसा अर्थ नहीं है।)

कान नहिं कीजिये जरत विरह की आगि॥ समय देहु जामे कछुक हियकी अगिन बुझाइ। तब अवसर किछु कहनको जब दुख घटत लखाय॥'

नोट—४ *'सुनत……'* चण्डी, *'मयतनया……'* तामरस है—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२ (क) पतिव्रता अपने पतिका अपमान नहीं सह सकती—*'सिव अपमान न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध। सकल सभहिं हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध॥'* यहाँ मन्दोदरी आदि रानियाँ रावणके अपमानसे दुःखित न हुईं, क्योंकि रावणकी अनीति न अच्छी लगी। इसीसे नीति कहकर उसे समझाने लगीं कि यह बात तुमको नहीं शोभा देती। (ख) *'बुझावा'* के यहाँ दोनों अर्थ लगते हैं—समझाना और ठंडा करना। इस शब्दको देकर जनाया कि बड़े क्रोधसे दौड़ा था, समझानेसे शान्त हुआ।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥ ८॥

मास दिवस महुँ कहा न माना। तौं मैं मारब काढ़ि कृपाना॥ ९॥

अर्थ—तब उसने सब राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि जाकर सीताको बहुत प्रकारसे डरवाओ॥ ८॥ यदि एक महीनेमें कहना न माना तो मैं तलवार निकालकर उसे मारूँगा॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'बोलाई'* और *'जाई'* से सूचित किया कि मन्दोदरीके समझानेपर फिर रावण वहाँसे चल दिया, ठहरा नहीं। समीप होता तो, *'जाई'* का प्रयोजन न था। भाव यह कि जिस कामके लिये बनाव-शृङ्गारसे आया था वह न हुआ बल्कि बिगड़ा-बिगड़ी हो गयी, गाली भी सुनी, तब कौन मुँह लेकर वहाँ ठहरता।

नोट—१ *'सकल निसिचरिन्ह'*—ये वही राक्षसियाँ हैं जो श्रीसीताजीकी रक्षा तथा पहरेके लिये अशोकवाटिकामें रखी गयी थीं। यथा—*'तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ।'* (३। २९), 'संददर्श ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः।' (वाल्मी० ५। २२। ३२)

नोट—२ *'बोलाई'* से यह भी भाव ले सकते हैं कि रावणके आनेपर और श्रीजानकीजीसे बातें प्रारम्भ होनेपर वे वहाँसे हट गयी थीं; अतः उन्हें अलग बुलाकर कहा। *'जाई'* से स्पष्ट है कि वे श्रीसीताजीके पास नहीं हैं, रावणने उनसे यह बात सीताजीके सामने नहीं कही। मा० त० सु० में *'जाई'* का अर्थ 'मैं जाता हूँ' किया है पर ऐसा प्रयोग अन्यत्र देखनेमें नहीं आता।

नोट—३ *'मास दिवस महुँ कहा न माना।……'* इति। ☞इसके दो प्रकारसे अर्थ हो सकते हैं। एक तो निशाचरियोंके प्रति लेकर और दूसरे निशाचरियोंसे श्रीसीताजीके प्रति कहनेको। निशाचरियोंके प्रति धमकी है कि एक मासमें मेरे वश न करा सकीं तो मैं तुम्हारा वध करूँगा और दूसरे पक्षमें यह अर्थ है कि 'तुम उनसे कहना कि महात्मा रावणने कहा है कि एक मासमें मेरी आज्ञा न मान ली तो मैं अवश्य मार डालूँगा, वह इस भ्रममें न रहे कि मैं मन्दोदरीके कहनेसे मान गया हूँ, अब न मारूँगा।

नोट—४ *'मास दिवस'* महीना दिन कथनका भाव यह है कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है, उसकी पूर्ति पूर्णिमा एवं संक्रान्तिपर भी हो जाती है। *'मास दिवस'* अर्थात् 'मासके पूरे दिन गिनकर तीस दिन'—यह सूचित करने और उपर्युक्त भ्रमनिवारणार्थ 'मास' के साथ 'दिवस' पद दिया। अथवा, *'मास दिवस'* बोली है, यथा—*'मास दिवस कर दिवस भा……।'* (१। १९५), *'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।'* (४। ६), *'मास दिवस महँ आएहु भाई।'* (४। २२) *'मास दिवस महुँ नाथ न आवा।'* (५। २७)

नोट—५ पंजाबीजी कहते हैं कि पौष आ रहा है, उसमें मङ्गल कार्य नहीं होते इससे एक मासकी अवधि दी।*

* १-वाल्मीकीयमें दो मासकी अवधि देना कहा है, यथा—'द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।', 'द्वौ मासौ रक्षितव्यौ……' (५। २२। ९, ८), पर भट्टिकाव्यमें एक मासकी अवधि है, यथा—'न मासे प्रतिपत्तासि मां चेन्मर्तासि मैथिलि'।

२-अर्धाली ८ व ९ पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

३-गुप्तार्थ—'सीताजीके वचन सुनकर निजात्मघात (के उपायोंकी ओर) के लिये दौड़ा, मंदोदरीने नीति दिखायी

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें रावणने जानकीजीको तीन बार हुक्म दिया—(क) *'एक बार बिलोकु मम ओरा'* यह दान है। (ख) *'नाहि त सपदि मानु मम बानी'* यह भय है। (ग) *'मास दिवस महुँ कहा न माना।'*—यह मोहलत दी और इसपर भी न माना *'तौ मैं मारब·········'* यह दण्ड है।

शंका—रावणने ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कह डालीं और हनुमान्‌जी तरुपल्लवमें छिपे हुए सुनते रहे। वे कैसे सहन करते रहे?—*'हरि हर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥'* अंगदजीके सामने जब रावणने निन्दा की तब वे क्रोधवंत हो गये थे।

समाधान—(वेदान्तभूषणजी)—समाधानके पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि निन्दा किसे कहते हैं। किसीके परोक्षमें उसके ऊपर 'मिथ्यादोषारोपण' का नाम 'निन्दा' है और समक्षमें मिथ्यादोषारोपणका नाम गाली है। रावणने श्रीरामजीके परोक्षमें श्रीरामजीपर मिथ्यादोषारोपण किया। यथा—*'बल प्रताप बुधि तेज न ताके।·······'* इत्यादि, तब *'क्रोधवंत अति भएउ कपिंदा।'* (६। ३१। १) किंतु उसी रावणने जब रणाङ्गणमें श्रीरामजीको कटु वचन कहे तब साथमें रहते हुए भी अंगदने कोप न किया, क्योंकि उसका प्रत्युत्तर करनेके लिये उसके सम्मुख ही श्रीरामजी उपस्थित थे। इसी तरह रावण जो कुछ कह रहा है वह श्रीजानकीजीके समक्ष और उन्हींसे कह रहा है और वे उसका प्रत्युत्तर कर ही रही हैं। रावण श्रीजानकीजीसे दूरीपर खड़ा है। यदि वह उनके पास पहुँच जाता तो अवश्य हनुमान्‌जीसे रहा न जाता। ये अवश्य रक्षा करते।

दूसरी बात यह भी है कि अङ्गदजीको प्रभुने पूर्णाधिकार देकर भेजा था, यथा—*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'* और हनुमान्‌जीको तो इतनी ही आज्ञा दी थी कि *'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥'* और अधिनायक श्रीजाम्बवान्‌ने भी यही कहा था कि *'एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥'* श्रीहनुमान्‌जी अन्वेषक दूतकी स्थितिमें थे और अङ्गदजी प्रतिनिधि (रामदूत) थे। अतएव दोनोंके दूतत्वमें अन्तर था। इसलिये दोनोंके कार्यमें अन्तर होना ही चाहिये।

तीसरे श्रीहनुमान्‌जी जिस श्रेणीके दूत बनाये गये हैं वे उसके कार्य-गौरवको खूब समझते हैं कि ऐसी स्थितिमें बिना दूरतक सोच लिये सहसा कुछ कर बैठना उचित नहीं। इस सम्बन्धमें आदिकवि प्राचेतस महर्षिने—**'स्वामिकार्यं विनङ्क्ष्यन्ति दूताः पण्डितमानिनः।'** इन शब्दोंमें श्रीहनुमान्‌जीका मन्तव्य स्पष्ट कह दिया। और श्रीहनुमान्‌जीको तो सर्वथा निश्चित ही है कि श्रीजानकीजीका विनाश किसी तरह हो ही नहीं सकता, उन्हींके वचनोंको पढ़िये—**'त्रयाणां भरतादीनां भ्रातॄणां देवता च या। रामस्य च मनःकान्ता सा कथं विनशिष्यति॥'**

दो०—भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।
सीतहि त्रास देखावहि धरहि रूप बहु मंद॥१०॥

अर्थ—(ऐसा कहकर) रावण घर चला गया। यहाँ निशाचरि-समूह सीताजीको भय दिखाती हैं और बहुत-से बुरे-बुरे रूप धारण करती हैं*॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि *'कहेसि सकल, निसिचरिन्ह'* और यहाँ *'पिसाचिनि बृंद'*; इस तरह दोनोंका पर्याय जनाया। वहाँ *'सकल'* है वही यहाँ *'बृंद'* हैं। (ख) *'बहु बिधि त्रासहु जाई'* अतएव *'इहाँ धरहिं रूप बहु मंद'* कहा। बहु देहलीदीपक है। बहुत मन्द और बहुत-से रूप धारण करती हैं।

कि इनकी सेवा करो इससे शीघ्र प्रसन्न होंगी; अतएव राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि तुम जाकर त्रास अर्थात् कष्ट सहकर इनकी सेवा करो, एक मासमें प्रसन्न न हुई तो समझूँगा कि तुमने ठीक सेवा नहीं की। तुमको मार डालूँगा। पुनः यदि सीताप्रति ये वचन हैं तो अर्थ होगा कि मैं खड्ग निकालकर अपना सिर काट डालूँगा।'

☞ ४—मा० त० सु० लिखती हैं कि ये (गुप्त) विलक्षण अर्थ श्रीवाल्मीकीय-तिलककार-तीर्थ आदि महात्माओंने दरसाये हैं। प्रयागनिवासी पं० शिवसहायजीने तो स्पष्ट कर दिया है; अतः उन्हीं लोगोंकी शैलीका अवलम्बन कर तथा पुष्पाञ्जलि टीकानुकूल यह व्याख्या लिखी गयी।

* चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

नोट—१ जब राक्षसियोंको बुलाया तब *'निसिचरिन्ह'* कहा और अब अनेक भयंकर रूप धारण करके श्रीसीताजीको त्रास दे रही हैं अतः अब *'पिसाचिनि'* पद दिया। पिशाचिनियोंके ऐसे ही आचरण होते हैं, यथा—*'नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥'* (६। ५१) २—*'सीतहि त्रास देखावहिं।'* वाल्मी० ५ सर्ग २३, २४ में त्रास दिखानेका वर्णन है। ३—*'बृंद'* शब्दसे जनाया कि सब एक साथ मिलकर भी डरवाती थीं।

त्रिजटा नाम राछसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका॥ १॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥ २॥

अर्थ—एक राक्षसी त्रिजटा नामकी थी जिसकी श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति थी और जो विवेकमें निपुण थी॥ १॥ उसने सबोंको बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि सीताजीकी सेवा करके अपना भला कर लो॥ २॥

नोट—१ *'त्रिजटा'*—यह एक बूढ़ी राक्षसी थी जो बड़ी बुद्धिमान् थी। भूषण-टीकाकार लिखते हैं कि यह विभीषणजीकी पुत्री थी। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि तीन गुणोंसे जटित होनेके कारण इसका नाम त्रिजटा हुआ—रामचरणरति, व्यवहार-निपुणता और विवेक—ये ही तीन गुण हैं। स्वप्न सुनाकर श्रीसीताजीकी सेवाका उपदेश करना यह व्यवहारमें निपुणता है। *'सीतहि सेइ करहु हित अपना'* यह भक्ति है। इनकी सेवासे ही कल्याण होता है यह जानना ही विवेक है। सत्-असत्का ज्ञान विवेक है। यह जानती है कि हरिभजन ही सत्य है और सब जगत्-व्यवहार असत्य है। ऐसा विवेक होनेसे उसको श्रीरामचरणोंमें प्रेम है। अतः *'रामचरन रति निपुन बिबेका'* कहा। अथवा *'होइहि सत्य गये दिन चारी।'* यह अनुभवकथन विवेक है (पं०, रा० प्र०)।

टिप्पणी—१ (क) *'राछसी एका'* अर्थात् उस वृन्दभरमें यही एक ऐसी थी। रामप्रेमसे ज्ञानकी और ज्ञानसे भक्तिकी शोभा है। यथा—*'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू'* और *'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहत सहित सुबिरति बिचारा॥'* (ख)—*'रामचरन रति'* से उपासना कही और विवेकसे ज्ञान कहा, कर्म न कहा; क्योंकि स्त्रीको कर्म करनेका अधिकार नहीं है। जहाँ तीनोंका अधिकार होता है वहाँ तीनों कहे हैं। यथा—*'धर्मधुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारंगपानी॥'* यहाँ धर्मधुरंधरसे कर्म, ज्ञानीसे ज्ञान, *'हृदय भगति.......'* से उपासना, तीनों कहे; क्योंकि ये तीनोंके अधिकारी हैं। (ग) रामचरणमें प्रेम है, इसीसे सीताजीकी सेवा करनेको कहती है और विवेकमें निपुण है इसीसे सबका हित किया, यथा—*'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥'* उसको स्वप्नमें भविष्यका ज्ञान प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—२ (क) *'सबन्हौ बोलि.......'* इति। रावणने सबको बुलाकर दुःख देनेकी आज्ञा दी थी, इसीसे इसने *'सब'* को बुलाया जिसमें सब सुन लें, कोई दुःख न दे। *'बोलि'* से ज्ञात हुआ कि औरोंसे कुछ दूर थी, पर इतनी दूर न थी कि श्रीसीताजी उसकी बात न सुन पातीं। इन्होंने भी सुना तभी तो उससे कहा कि *'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी'।* (ख) स्वप्न सुनानेका भाव कि यदि वैसे ही यह मना करती, स्वप्न न सुनाती तो कोई मानती नहीं, स्वप्न सुनानेसे सबको विश्वास होगा। (ग) *'करहु हित अपना'* अर्थात् रावणके हितमें जो तुम तत्पर हो उसे छोड़ो और अपने हितमें लगो। भाव यह कि श्रीसीताजीको दुःख देनेसे तुम्हारा अहित होगा। त्रिजटा रामभक्त है, इसीसे उसने श्रीसीताजीका हित किया और राक्षसियोंसे सेवा कराके उनका हित किया। यह धर्म है। यथा—*'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥'*

नोट—२ *'हित हमार सियपति सेवकाई'* (२। १७८। १) श्रीभरतजीके इस वाक्यके अनुसार जीवका अपना हित भी श्रीसीतारामजीकी सेवाहीमें है। यहाँ स्वार्थ और परमार्थका एकीकरण हो जाता है। (लमगोड़ाजी)

नोट—३ *'सीतहि सेइ करहु हित अपना'* इति। वाल्मी० ५। २७ में स्वप्नका विस्तृत उल्लेख है। श्लोक ९ से लेकर तीस श्लोकोंमें स्वप्न है। यह कहकर उसने हितके वचन कहे हैं कि—'तुम शीघ्र देखोगी कि श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र प्राप्त होती हैं। राक्षसोंको मारकर वे तुम लोगोंको अवश्य मारेंगे क्योंकि अपनी प्राणप्रिया, वनवासमें भी साथ देनेवाली पत्नीका तुम लोगोंद्वारा भर्त्सन और तर्जन वे कदापि

नहीं सह सकते, वे कभी क्षमा न करेंगे। अतएव उचित है कि अब तुम श्रीजानकीजीसे क्रूर वाक्य न कहो किंतु उनको कोमल वचनोंसे धीरज दो। मुझे तो यही रुचता है कि हम सब मिलकर उनसे अनुग्रहकी प्रार्थना करें। यद्यपि तुम लोगोंने इनको बहुत त्रास दिया है तो भी तुम इस बातकी चिन्ता न करो। ये मैथिलीजी प्रणाममात्रसे प्रसन्न हो जायँगी। वे ही इस भयसे हम सबोंकी रक्षा करेंगी।' यथा—'……**पश्यध्वं सीतामाप्नोति राघवः। घातयेत्परमामर्षी युष्मान् सार्धं हि राक्षसैः॥ प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम्। भर्त्सितां तर्जितां वापि नानुमंस्यति राघवः॥ तदलं क्रूरवाक्यैश्च सान्त्वमेवाभिधीयताम्। अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते॥**……**भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया।**……**प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥**' (वाल्मी० ५। २७। ४१—४६)—ये सब भाव *'सीतहि सेइ करहु हित अपना।'* से जना दिया।

नोट—४ यह स्वप्न त्रिजटाको श्रीरामजीकी इच्छासे हुआ। झूठे ही स्वप्न बनाकर नहीं कहा गया। ☞ भक्त जब बहुत आपत्तिमें पड़ जाता है तब प्रभु ही उसकी रक्षाका उपाय रच देते हैं। त्रिजटाको स्वप्न हुआ और वह भी प्रातःकाल। वह जानती है कि प्रातःकालका स्वप्न प्रायः सत्य होता है। उसको अनुभव है कि यदि दुःखियारी स्त्रीके सम्बन्धमें ऐसा स्वप्न हो तो वह अवश्य दुःखोंसे छुटकारा पाकर अपने पतिको पाती है। यथा—'**यस्या ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते। सा दुःखैर्बहुभिर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥**' (वाल्मी० ५। २७। ४४)—इसीसे उसे ऐसा स्वप्न हुआ जिससे उसे स्वयं विश्वास हुआ और दूसरोंको वह विश्वास दिला सकी। श्रीहनुमान्‌जीसे भी भेंट करानेके लिये यह स्वप्न हरि-इच्छासे हुआ।

नोट—५ *'सीतहि'* का *'हि'* यहाँ निश्चयार्थक अव्यय है जिसमें भाव यह है कि एकमात्र श्रीसीताजीकी ही सेवासे हित होगा, अन्यथा नहीं।

नोट—६ वह स्वयं भक्ता और विवेकी है; इसीसे उसने उनको भी दोनोंका उपदेश दिया। 'सेवा करो' भक्ति है और 'इसमें अपना हित जानो' यह विवेक दिया।

सपने बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥ ३॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥ ४॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥ ५॥

अर्थ—स्वप्नमें (मैंने देखा है कि एक) वानरने लङ्का जला डाली और राक्षसोंकी सारी सेना मार डाली॥ ३॥ दस सिरोंवाला रावण गधेपर सवार है, नंगा है, उसके सिर मुँड़े हुए हैं और बीसों भुजाएँ कटी हुई हैं॥ ४॥ इस प्रकार वह दक्षिण दिशाको जा रहा है और लङ्का मानो विभीषणजीने पायी है॥ ५॥

नोट—१ *'सपने बानर लंका जारी'* इति। पूर्व एक बार कह चुके हैं कि *'सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना'* और अब फिर कहते हैं कि *'सपने बानर……'।* दो बार स्वप्नका कहना लिखकर सूचित किया कि प्रथम यही कहा कि मैंने आज बड़ा भयंकर एवं रोमाञ्चकारी स्वप्न देखा है जिसका फल है—रावणका नाश और श्रीसीताजीके पतिकी विजय। यह सुनकर सब राक्षसियाँ भयभीत हो गयीं और उन्होंने उससे पूछा कि क्या स्वप्न देखा है? तब त्रिजटाने स्वप्न सुनाया। यथा—'**स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः। राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या भवाय च॥**', '**कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि। तासां श्रुत्वा तु वचनं राक्षसीनां मुखोद्गतम्॥**' (वाल्मी० ५। २७। ६, ८)—वाल्मीकीयके भाव प्रकट करनेको यहाँ दो बार लिखा।

नोट—२ प्रथम स्वप्नके वृत्तान्त नहीं सुनाये, केवल स्वप्न देखना कहा और कहा कि *'सीतहि सेइ करहु हित अपना।'* इसपर राक्षसियोंने कहा होगा कि रावणके जीते-जी हमारा अहित कौन कर सकता है? इसपर उसने स्वप्नका वृत्तान्त सुनाया जो स्वप्नविचारानुसार रावणके नाश और श्रीरामजीके जयके सूचक हैं।

टिप्पणी—१ *'सपने बानर लंका जारी।'*…… 'इति। (क) लङ्का जलाना अगम है, यथा—*'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥'* (३३। ५), *'देखत तुम्हहि नगर जेहि जारा।'* (६। ५५। ४) लङ्कापुरी दुर्धर्ष है, रावण त्रैलोक्यविजयी है, ऐसी भी लङ्काको रावणके रहते एक बंदरने जला डाला। यथा—*'रावन नगर अलप*

कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥' (६। २३। ८) **'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंकानाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥'** (ख) इस चौपाईमें सुन्दरकाण्डकी कथा कही, आगे लंकाकाण्ड है।

टिप्पणी—२ (क) *'खर आरूढ़ नगन दससीसा।'* इति। सेनाका मरना प्रथम कहकर तब रावणका मरण कहा, ऐसा ही हुआ भी और प्राय: ऐसा ही सब राजाओंकी लड़ाइयोंमें होता है। (ख) *'मुंडित सिर'* से तो मरण न हुआ? खंडित सिर कहनेसे मरण जाना जाता सो क्यों न कहा? कारण कि स्वप्नाध्यायमें लिखा है कि जिनकी मृत्यु देख पड़ती है, उसकी मृत्यु नहीं होती; वरन् दूसरेकी मृत्यु होती है और जिसको सिर मुँड़ाए देखो उसकी मृत्यु अवश्य होती है। (ग) दक्षिण दिशामें यमपुरी है। दक्षिण दिशा या यमपुरको जाना मुहावरा है, मृत्यु होना इसका अर्थ है चाहे कोई स्वर्ग जाय, चाहे नरक, मृत्युसूचक स्वप्न सबोंको एक ही होते हैं। (घ) *'जाई'* का भाव यह कि जिसको स्वप्नमें इस प्रकार देखे वह अवश्य मरता है। *'पाई'* से जनाया कि जो उसके हाथोंसे निकल गयी थी, उस गयी हुईको पुन: पाया। रावणने विभीषणजीको निकाल दिया था, इससे राज्य मिलनेकी आशा न रही थी; यथा—*'करत राज लंका सठ त्यागी।'* (५३।.५।) वह पुन: मिली। पुन:, जैसे सुग्रीवने किष्किन्धाका राज्य पाया था, यथा—*'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी।'* वैसे ही विभीषणजीने गयी हुई सम्पत्ति पायी। 'गई हुई' के ही सम्बन्धसे *'पाई'* कहा जाता है; यथा—*'गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।'* (२। ४४), *'मनहुँ बिभीषन पाई'* इति। यहाँ *'मनहुँ'* उत्प्रेक्षाका पद दिया क्योंकि यह स्वप्नकी बात है और स्वप्नकी बात कहनेकी ऐसी ही रीति है।—[*'पाई'* के इस भावमें एक दोष यह आता है कि विभीषणका राज्य छीना नहीं गया, वह कभी राजा न थे और न उत्तराधिकारी ही हो सकते थे।]

नोट—३ *'मनहुँ'* उत्प्रेक्षालंकारसे मानो कवि उस भेदको भी निवाह देता है जो घटनाओंकी वास्तविकता और स्वप्नके आधारवाली कल्पनामें प्रतीत होता है। (लमगोड़ाजी)

नोट—४ वाल्मीकीयमें भी कहा है—'……**गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः॥**', '**लंका दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता। दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना॥**', '**एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः॥**……' (५। २७। २५, ३८, ३२)

नोट—५ अर्धाली ३, ४ पायकुलक, *'एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई'* कुसुमविचित्रा और *'लंका मनहु……'* पायकुलक भेद है।

बाबा हरिदासजी—यहाँ त्रिजटाने दस बातें कहीं—लंकादहन, सेनावध, खंडित भुज, विभीषणराज्य, विजय-घोषणा, सीता-मिलाप, खर-आरूढ़, नग्न, मुंडित सिर और दक्षिण दिशाको गमन। इसमेंसे प्रथम छ: तो सत्य हुईं पर अन्तिम चारका होना जान न पड़ा। यह शंका होती है। इसका समाधान यह है—(१) जब अंगदने प्रतिज्ञा की कि *'जो मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥'*, तब सबने हटाना चाहा पर चरण किसीके टाले न टला। इससे रावणकी हार हुई। हारनेपर गधेपर चढ़ानेकी रीति है—(भक्तमालमें इसके प्रमाण हैं) रावणकी यह हार मानो गधेपर सवार होना है। (२) अंगदने हाथ पटका तब सभासहित सब गिर पड़े—*'दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी॥ डोलत धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे॥'* इससे रावणकी लज्जा मर्यादा जाती रही और नग्न होनेसे भी लज्जा-मर्यादा नहीं रहती। अत: यह नग्न होना हुआ। (३) *'भूतल परे मुकुट अति सुंदर।'* रावणके सिरपरसे मुकुट गिर पड़े; इनमेंसे कुछको अंगदने उठाकर प्रभुके पास चला दिया, उसका सिर शोभाहीन हो गया। यही सिरका मुंडित होना हुआ। और (४) दक्षिणदिशिसे मरण कहा; क्योंकि मृतकका पैर दक्षिण दिशाकी ओर रखा जाता है; जीवित मनुष्य दक्षिण दिशाकी ओर पैर करके नहीं सोते।

नगर* फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥ ६॥
यह सपना मैं कहौं पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥ ७॥

* ब्र० चं०—'नगर……' तामरस, 'तब' से 'चारी' तक पायकुलक, 'तासु……' आ० चौ० का ३२१ वाँ भेद, 'जनकसुता' ३४८ वाँ भेद है।

तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरनन्हि परीं॥ ८॥

अर्थ—नगरमें रघुवीरकी दोहाई फिर गयी तब प्रभुने सीताजीको बुला भेजा॥ ६॥ मैं पुकारकर (विश्वासपूर्वक) कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन (कुछ ही दिनोंमें) सत्य होगा॥ ७॥ उसके वचन सुनकर वे सब डर गयीं और जानकीजीके चरणोंपर गिर पड़ीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'नगर फिरी रघुबीर दोहाई।'*......' इति। (क) जिसका राज्य होता है, उसकी दुहाई फिरती है (उसके विजय एवं राज्यकी घोषणा डंके आदिके द्वारा होती है); यथा—*'जब प्रतापरबि भयउ नृप फिरी दोहाई देस।'* (१। १५३) सब निशाचर-सेनाको मारकर विजय-घोषणा की, इसीसे *'रघुबीर'* कहा। (ख)—*'तब'* अर्थात् जब विभीषणको राज्य दे चुके। पहले शरणागतका काम किया, उसको निर्द्वन्द्व कर दिया, तब अपना काम पीछे किया—यह श्रीरामजीका स्वभाव है। जैसे पहले सुग्रीवको राज्य देकर तब सीताजीकी खोज करायी, वैसे ही विभीषणजीको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया। इसी प्रकार अवध पहुँचनेपर प्रथम सखाओंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया। *'तब प्रभु सीतहि बोलि पठाई'* कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम सब इनको दुःख देती हो, जब इनको प्रभु बुलाकर पूछेंगे, ये सब हाल उनसे कहेंगी, तब तुम्हारी दुर्दशा होगी।

टिप्पणी—२ *'यह सपना मैं कहौं पुकारी।'*.........' इति।—भाव यह है कि स्वप्न सत्य होगा, हमने प्रातःकालमें अभी देखा है। अथवा, औरोंके स्वप्न चाहे असत्य हों परंतु परमभक्तोंके स्वप्न सत्य ही होते हैं। जैसे श्रीपार्वतीजी, श्रीभरतजी और श्रीरामजीने जो-जो स्वप्न देखे, वे सब सत्य हुए। यथा—*'सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहि। सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥'* (१। ७२), *'करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥'*, *'देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥'* (२। १५७), *'उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीय सपन अस देखा॥ सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तनु ताए॥ सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी॥'* (२। २२६)—(*'होइहि सत्य'* कहनेमें भाव यह है कि स्वप्न प्रायः असत्य होते हैं; यथा—*'सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ। जागे लाभु न हानि कछु'*......... *॥'*(२। ९२); इसीसे कहती है कि इससे भी असत्य न समझ लेना, यह अवश्य सत्य होगा। *'हि'* निश्चयार्थक है।)

टिप्पणी—३ (क) *'कहौं पुकारी'* इति। अर्थात् पुकारकर कहती हूँ जिसमें सबको भलीभाँति विदित हो जाय, पीछे कोई न कहे कि हमसे नहीं कहा। अब चाहे तुम मानो चाहे न मानो; न माननेसे तुम्हारा अहित हो तो इसमें हमारा दोष नहीं। यथा—*'कालकवलु होइहि छन माहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥'* (१। २७४) [वाल्मी० ५। २४ में उन राक्षसियोंके नाम दिये हैं जो श्रीसीताजीके पहरेपर थीं। विनता, विकटा, चण्डोदरी, प्रघसा, अजामुखा और शूर्पणखा। इन सबोंने सीताजीको डरवाया। शूर्पणखा कहती है कि जो अजामुखाने कहा वही मेरी भी राय है, शीघ्र सुरा ले आओ, मनुष्यका मांस खाकर हमलोग निकुम्भिलामें नाचें (श्लोक ४३—४७)। श्रीत्रिपाठीजी इसीके आधारपर *'पुकारि'* का भाव यह कहते हैं कि 'यह ध्रुव सत्य है, मैं डिमडिम घोषसे कहती हूँ। जाय शूर्पणखा रावणसे कह दे, साँचको आँच क्या?' (वि० त्रि०) ☞ वचनकी प्रवीणता (eloquence) के नियमसे इसमें अपना स्वयं विश्वास तो है ही; पर वह इतना दृढ़ भी है कि बड़े जोरसे कहा जाना सूचित होता है; दुविधा होती तो मौन रहती। (लमगोड़ाजी)] (ख)—*'गएँ दिन चारी'* इति। चार दिन अल्पकालका वाचक है; यथा—*'बाँधि बारिधि, साधि रिपु, दिन चारिमें दोउ बीर। मिलहिंगे कपि-भालु-दल सँग जननि! उर धरु धीर॥'* (गी० सुं० ६) [दो-चार दिन, चार-छः दिन, चार दिन, छः-सात दिन' इत्यादि मुहावरे (लोकोक्ति) हैं। इनसे दिनोंकी ठीक-ठीक संख्या न समझनी चाहिये। कवितावली, गीतावली और मानसमें इस प्रकारके और भी प्रयोग हैं; यथा—*'दिवस छ-सात जानिबे न, मातु धरु धीर, अरि-अंतकी अवधि रही थोरिकै।'*, (क० सुं० २७), *'तौलौं मातु! आपु नीके रहिबो। जौलौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं, दिन दस और दुसह दुख सहिबो॥'* (गी० ५। १४), *'दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ*

देवा॥' (७। १९। ८), *'दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥'* (६। २१) इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ दिनकी संख्या विवक्षित नहीं है।]

नोट—१ मासमें प्रसाद-गुण ही प्रधान है। इन विचारसे ठीक अर्थ यही है तो भी लोगोंने ***'दिन चारी'*** पर मस्तिष्कको पचाया है और अनेक भाव कहे हैं—इनमेंसे दो-एक यहाँ दिये जाते हैं—ये सब वाग्विलास ही हैं—(१) ***'होइहि सत्य गये दिन चारी'***=चारी (चारों बातें) सत्य होइहहिं, (कुछ) दिन गये। चार बातें ये है—लंकादहन और सेनावध, रावण-वध, विभीषणराज्य, विजयघोषणा और श्रीसीताराम-मिलाप। (२) रा० शं०—किसी कामके प्रारम्भसे समाप्तितक जितने दिन लगते हैं, उनपर ध्यान न देकर जिस दिन वह पूरा होता है उसे त्रिजटा एक दिन गिनती है। लंकादहन एक दिन, सेनाकी लड़ाईके दिन छोड़कर जिस दिन सेनाकी समाप्ति हुई वह एक दिन, रावणके युद्धके दिन छोड़कर उसके मरणका एक दिन, और युद्धके बाद जो दिन बीते, उन्हें छोड़कर विभीषणके राजतिलकका एक दिन। इस प्रकार चार दिन हुए। (१) और (२) में तो कुछ भाव भी हैं, पर आगे कोरी पण्डिताई देखिये। (३) गये दिन रात्रि, निशि। गये दिनचारी=निशिचरी। अर्थात् हे निशाचरियो! यह स्वप्न सत्य होगा। (४) दिनचारी वानर। अर्थात् हनुमान्‌जीके जानेपर।········इत्यादि। (१) का उत्तर यह है कि ***'होइहि'*** एकवचन है और ***'चारी'*** बहुवचन।

मा० त० सु०—'त्रिजटाने लंकादहनसे ही क्यों कहा? वानरका लंकामें प्रवेश, अशोकवाटिकामें आगमन आदि व्यवस्था क्यों न कही?' उत्तर—त्रिजटाको 'विवेकमें निपुण' कहा है; यथा—*'रामचरनरति निपुन बिबेका।'* उसने विचारा कि यदि इसे कहूँगी तो राक्षस सुनकर वानरको खोजने लगेंगे, जिससे रामकार्यमें बाधा होगी।—[नोट—मा० त० सु०—कार ***'सपना'*** को त्रिजटाका अनुभव समझते हैं, वस्तुतः स्वप्न नहीं। पर औरोंके मतसे यह उसने स्वप्नमें ही देखा, और हरिइच्छासे इतना ही स्वप्न देखा, वही उसने कह दिया। विभीषणजीके सम्बन्धसे केवल यह अनुमान ही है कि उसे वानरका आगमन मालूम है।]

टिप्पणी—४ *'तासु बचन सुनि ते सब डरीं।·······'* इति। (क)—त्रिजटाका रामभक्त और ज्ञानी होना प्रारम्भमें कहा था, यथा—*'रामचरनरति निपुन बिबेका।'*; पर *'ते सब डरीं'* से जान पड़ता है कि उसने भक्ति और ज्ञान न कहा केवल भय दिखाया कि तुम इनका भर्त्सन और तर्जन कर रही हो, अतएव विजय होनेपर श्रीरामजी तुम्हें अवश्य दण्ड देंगे। केवल भयदर्शनका कारण यह है कि निशाचरियाँ भक्ति या ज्ञानकी अधिकारिणी न थीं। (ख)—*'जनकसुता के·······'* इति। जनकसुताके चरणोंपर अपराध क्षमा-हेतु पड़ीं और जनाया कि हम शरण हैं, इन्हीं चरणोंका अवलम्ब हमको है, हम अत्यन्त दीन हैं। ये जनक-ऐसे महात्माकी कन्या हैं, इन्होंने क्षमा कर दिया।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी श्रीसीताजीको ***'प्रणाम'*** से प्रसन्न होनेवाली कहते समय भी ***'जनकात्मजा'*** ही कहा है; यथा—'**प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।**' (५। २७। ४६) वही भाव दरसानेके लिये यहाँ *'जनकसुता'* पद दिया। यह भी जनाया कि ऐश्वर्यभावसे ईश्वरी जानकर प्रणाम नहीं किया। उन्होंने क्षमा कर दिया, यथा—'**ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥**' (५। २७। ५४) श्रीसीताजीने विश्वास दिखाया कि यदि ऐसा हुआ तो मैं अवश्य रक्षा करूँगी। [(पर यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जाता है। चतुर्वेदीजीने नहीं दिया है। श्रीवचनभूषणमें भी आया है।) त्रिजटाका अनुभव जो *'सीतहि सेइ करहु हित अपना'* इन वचनोंमें निहित है, सत्य हुआ। निशाचरियोंको इसका प्रमाण रावण-वधपर मिल ही गया। श्रीहनुमान्‌जीने रावणवधका समाचार देकर इन सबोंके चित्रवधकी आज्ञा माँगी, और श्रीजानकीजीने इनकी रक्षा की। वाल्मी० ६। ११६। ३०—४६ में यह प्रसंग है।]

प० प० प्र०—१ इस अर्धालीमें प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा कम करके गतिविच्छेद, लयभंग करके (डरीं) के भाव दिग्दर्शित किये हैं। डरसे घिग्घी बँध गयी, शरीर काँपने लगा इत्यादि भाव पाठसे ही बता दिया।

प० प० प्र०☞—२ जब राजसत्तान्तर होनेकी परिस्थिति निर्माण होती है तब अत्याचारी अन्यायी राजाकी प्रजा राजाज्ञाको कितना मानती है और क्षणमात्रमें लोगोंकी चित्तवृत्ति कैसी पलटती है यह इस

प्रसंगसे स्पष्ट है। धर्मशील न्यायपरायण राजाकी प्रजा विश्वासघात नहीं करती, यह राजा भानुप्रतापके प्रसंगसे शिक्षा मिलती है।

दो०—जहँ तहँ गईं सकल तब* सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच॥ ११॥

अर्थ—तब वे सब जहाँ-तहाँ चली गयीं। तब श्रीसीताजी मनमें चिन्ता करने लगीं कि एक महीना बीतनेपर नीच निशाचर रावण मुझे मारेगा॥ ११॥

☞ नाटकी कलामें कितना सुन्दर Aside है!! (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ ***'जहँ तहँ गईं सकल'*** इति। (क)—सबने सम्मत किया कि 'हमें देखकर इनको भय लगता है', यहाँसे इधर-उधर चल दें, समीप न रहें। अतएव ***'जहँ तहँ गईं।'*** पुनः यह हरिइच्छासे हुआ कि पास कोई न रहें। ***'जहँ तहँ'*** अर्थात् पास ही इधर-उधर अशोकवाटिकामें रहीं, घर नहीं गयीं। घर केवल त्रिजटा ही गयी, यथा—***'असि कहि सो निज भवन सिधारी।'***; वे भी घर जातीं तो ***'निज निज भवन गईं'*** कहते। वे घर न गयीं; क्योंकि रावणकी आज्ञा उनके पास रहनेकी है। (ख) त्रिजटाने तो सेवा करनेको कहा था—***'सीतहि सेइ करहु हित अपना।'*** और ये सब चली गयीं? इनका पाससे चला जाना यही बड़ी सेवा है; क्योंकि वे रावणकी आज्ञासे इनको ***'बहु बिधि' 'त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद।'*** पास रहनेसे सीताजीको उनका भय ही रहता, पास न रहेंगी तो भय जाता रहेगा। उपद्रवी उपद्रव न करे, यही उसकी बड़ी सेवा है, यथा—***'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चुराई॥'*** अतएव भय दिखाना छोड़ चली गयीं यह सेवा की। [मा० त० सु०—इस समय वे सेवायोग्य अवसर न देख सेवामें प्रवृत्त न हुईं, जब इनका समय आवेगा अर्थात् धर्मात्मा विभीषण राजा होंगे तब ये सेवामें प्रवृत्त होंगी। यथा—***'तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये॥ बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही। जनकसुता दिखाइ पुनि दीन्ही॥'*** (६। १०६) पुनः यथा—***'तुरतहि सकल गये जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता॥'*** (६। १०७)]

नोट—१ ***'तब'*** का भाव कि सबके चले जानेपर तो सोच दूर हो जाना चाहिये था और त्रिजटाके वचन सुनकर हर्ष होना चाहिये था, सो न हुआ। निशाचरियोंके त्रासका दुःख गया, ***'तब'*** मासदिवसकी अवधिका और नीच राक्षसके हाथसे मरनेकी बातपर ध्यान आ गया; अतः वे सोच करने लगीं। यथा—**'सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य तद्रावणस्य प्रियमप्रियार्ता। सीता वितत्रास……।'** (५। २८। १)

टिप्पणी—२ ***'सीता कर मन सोच'*** इति। पूर्व सीताजीने कहा है कि ***'चन्द्रहास हरु मम परितापं'*** आगे भी कहती हैं कि ***'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥'*** इससे स्पष्ट है कि वे मरनेपर तैयार थीं और आगे भी तैयार दिखती हैं। तब यहाँ बीचमें ***'सीता कर मन सोच'*** कैसा? अर्थात् यहाँ मरनेका सोच क्यों करती हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सोच यह नहीं है कि हम मारी जायँगी, यह तो वे चाहती ही हैं। सोच इस बातका है कि महीनाभर बीत जानेपर मारेगा; तबतक हमको विरह सहना पड़ेगा, जो हमसे अभी ही नहीं सहा जा रहा है। इसीसे आगे कहती हैं कि ***'करु बेगि उपाई'*** जिसमें शीघ्र मर जाऊँ। इसपर यदि कहा जाय कि हनुमान्‌जीसे भी तो ऐसा ही कहा है—***'मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥'*** (२७। ६), तो वहाँ भी उन्होंने अपने मरनेके सोचसे यह बात नहीं कही, वहाँ केवल श्रीरामचन्द्रजीके शीघ्र आकर दुःख हरनेके अभिप्रायसे कहा (कि देर हुई तो आना व्यर्थ हो जायगा)। पुनः, उन्होंने हनुमान्‌जीसे यथार्थ जैसी बात रावणने कही थी वही ज्यों-की-त्यों कही है। अथवा, सोच इससे कि नीचके हाथ मरण होगा। नीचके हाथ मरण होनेसे नरक होता है।

नोट—२ सोच यह है कि राक्षसके हाथसे मृत्यु होगी। यथा—'**हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्॥**' (वाल्मी० ५। २८। ११) अर्थात् हे प्राणिमात्रके हितैषी और प्रिय (श्रीराघवजी)!

* मिलि—पाठान्तर। (पा० कु०)

आपको यह नहीं विदित है कि मैं राक्षसोंके हाथसे मारी जानेवाली हूँ। यह भी सह लेती यदि तुरंत मार डाली जाती; पर उसके लिये एक मासकी अवधि है। आत्मघात करना चाहती हूँ पर न विष ही मिलता है न शस्त्र। सत्य है कि समय आये बिना मृत्यु नहीं होती। वाल्मी० ५। २८ के ये सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। यथा—**'संजीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वापि। विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य॥', 'सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः।'** (५। २८। १६, ३)

टिप्पणी—३ ***'मारिहि निसिचर पोच'*** इति। स्त्री अवध्य है, स्त्रीका वध बड़ी नीचता है, सो भी करनेको रावण उद्यत हुआ, यथा—***'नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी॥'***; पर यह कहकर भी उसने वचनोंको प्रमाण न किया, शीघ्र मारनेको कहकर फिर भी मारा नहीं वरन् मासभरकी अवधि दे दी; यथा—***'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब·········॥'*** दोनों कारणोंसे ***'पोच'*** कहा। (रा० कु०)

त्रिजटा सन बोली कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥ १॥
तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥ २॥

अर्थ—श्रीसीताजी त्रिजटासे हाथ जोड़कर बोलीं—'हे माता! तू मेरे दुःखकी साथिनी है॥ १॥ मैं शरीर छोड़ दूँ, इसका शीघ्र (कुछ) उपाय कर दे। विरह अत्यन्त कष्टदायक है, अब सहा नहीं जाता'॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'त्रिजटा सन बोली'*** इति। (क) त्रिजटासे क्यों कहा? वह तो कहना करेगी नहीं, क्योंकि उसे विश्वास है अपने स्वप्नका। दूसरे वह श्रीरामजीकी भक्ता है; वह मारनेका उपाय क्यों करेगी? और राक्षसियोंसे क्यों न कहा कि खा लें? कारण कि वे तो खानेको दौड़ती ही थीं पर खाती न थीं, उन्हें रावणने आज्ञा दी थी कि डराओ, इससे वे केवल भयानक रूप धरकर डरवाती थीं। उन्हें खाना होता तो खा क्यों न लेतीं, ये तो मरनेको तैयार ही थीं, ये कब रोकतीं? अतएव उनसे क्या कहतीं? (ख) ***'बोली कर जोरी'*** हाथ जोड़कर उपकार जनाती हैं। जो बात करनेको वे कहती हैं वह दुष्कर है, अगम है, त्रिजटा उसे न करेगी—वह कैसे कहेगी कि लो हम चिता लगाये देती हैं तुम जल जाओ? इसीसे हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं। अगम बात इसी तरह माँगनेकी रीति है, यथा—***'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥'*** (२। २९) भरतको राज्य देनेमें राजाको दुःख न होगा इससे भरत-राज्य माँगनेमें हाथ न जोड़ा; यथा—***'सुनहु प्रानप्रिय भावत जीका। देहु एक बर भरतहि टीका॥'*** (२। २९। १); पर श्रीरामजीको वनवास देनेमें उन्हें बहुत दुःख होगा, वे यह वर दे नहीं सकते; इसीसे इसके माँगनेमें हाथ जोड़कर निहोरा करके तब वर माँगा। (ग) यहाँ श्रीसीताजीकी मन, वचन और कर्म तीनोंसे अत्यन्त दीनता दिखायी है—***'सीताकर मन सोच', 'त्रिजटा सन बोली', 'कर जोरी'*** (कर जोड़ना कर्म है)।

टिप्पणी—२ (क) ***'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी'*** इति। (भाव यह कि लङ्काभरमें विपत्तिका साथी तेरे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, इसीसे तुझसे कहती हूँ)। ***'बिपति संगिनि'*** अर्थात् हे माता! जैसे तू मेरी एक विपत्ति काटकर मेरी विपत्तिमें सहायिका हुई कि स्वप्न सुनाकर राक्षसियोंको निवारण किया, वैसे ही मेरी दूसरी विपत्तिके निवारणमें सहायक बन। दूसरी कौन विपत्ति है सो आगे कहती हैं। (ख) ***'तजौं देह'*** पहले कहकर तब ***'करु बेगि उपाई'*** कहा। भाव यह कि उपाय करनेमें विलम्ब है, तन-त्यागमें विलम्ब नहीं। आगे आप ही बताती हैं। (ग) ***'बिरह-अनल'*** नहीं सहा जाता। भाव कि प्राकृत अग्निसे विरहाग्निका ताप कठिन है, अग्निमें जलना सुगम है पर विरहाग्निमें जलना दुष्कर है। मरण सहन योग्य है; विरह असह्य है। (घ) ***'अब नहिं सहि जाई'*** इति। प्रतिकूल बात कहनेसे विरहीका विरह बढ़ जाता है, यथा—***'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए। लोचन सरोरुह श्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥'*** माता कौसल्या आदिने राज्य करनेको कहा, यह भरतजीकी भक्तिके प्रतिकूल है। वैसे ही रावणके वचन कि ***'एक बार बिलोकु मम ओरा'*** श्रीजानकीजीके पातिव्रत्यधर्मके प्रतिकूल हैं। अतएव कहा कि ***'अब'*** नहीं सह सकतीं।*

---

* मा० त० सु०—'दुसह बिरह' पदसे अपनेमें उज्ज्वलरस वियोग-शृङ्गार दरसाकर माधुर्यमय अन्तर्लापिका दरसाया है।

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥ ३॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी*॥ ४॥

अर्थ—लकड़ी लाकर चिता बनाकर रच और फिर, हे माता! उसमें आग लगा दे॥ ३॥ हे सयानी! मेरी प्रीति सच्ची कर दे† रावणके शूलके समान वचनोंको कानोंसे कौन सुने?॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'आनि काठ रचु चिता बनाई।.......'* इति (क) *'रचु बनाई'*। पद मङ्गलवाचक है। पतिके वियोगमें सतीका मरण होना मङ्गल है। जैसे उत्साहसे (उत्सवोंमें) लोग मङ्गल रचना रचते हैं, वैसे ही मेरे निमित्त उत्साहसे चिता रच दो। दशरथमरणपर भी इन्हीं शब्दोंका प्रयोग हुआ है, यथा—*'सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥'* तात्पर्य यह कि जो काम श्रीरामजीको न मिला वह हमको मिला।—[वहाँ भी रामविरहमें शरीर छूटा था, अतः मङ्गलवाचक पद दिया गया—(मा० सं०)]। चिता बनाकर लगा दे तो मैं उसमें प्रवेश कर जाऊँ; यथा—*'श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली'*। (ख)—कोई सम्बन्धी ही चितामें अग्नि लगाता है। यहाँ तुम मेरी माताके समान हो क्योंकि शरीर मातासे मिलता है और तुमने इस समय राक्षसियोंसे बचाकर मुझे मानो दूसरा जन्म दिया है। अतएव तुमको दग्ध करना उचित है। तुम आग लगा दो।‡

नोट—१ *'मातु'* इति। एक ओर इस करुणाजनक अपीलसे यह विरोध प्रकट होता है कि मातासे शरीर भस्म करनेको कह रही हैं और दूसरी ओर सूचित करती हैं कि इस समय मातृप्रेमका कर्तव्य है कि दुःखान्त करनेमें सहायक बने। ऐसे समय असाध्य रोगोंमें डाक्टर सकरुण हत्या (Pitiful killing) तक उचित समझता है। इसी आगामी हितके विचारसे *'सयानी'* शब्दका प्रयोग किया गया है। (लमगोड़ाजी)

नोट—२ *'मम प्रीति'* का साधारण अर्थ तो 'मेरी प्रीति' है।

टिप्पणी—२ *'सत्य करहि मम प्रीति'* इति। जबतक प्रियके वियोगमें शरीर न छूटे तबतक प्रीति सत्य नहीं, यथा—*'बंदउँ अवधभुवाल सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥'* (१। १६), *'तनु परिहरेउ पेम पन लागी।'* (२। २६४), *'ऐसे सुतके बिरह-अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परमिति, अजस सुनौं निज कान॥.......तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥'* (गी० २। ५९)

टिप्पणी—३ *'सयानी'* का भाव कि तुम जानती हो कि पतिविहीन स्त्रीका जीवन व्यर्थ है। अथवा, तुम भी प्रेमिन हो, जानती हो, कि तन छूटनेसे ही प्रीति सत्य होगी अन्यथा झूठी है, यथा—*'निंदहिं आपु सराहहिं*

---

* ब्र० चं०—१२ (१) (२) (३) (४) पायकुलक है।

† 'मम प्रीति' का साधारण अर्थ ऊपर दिया गया। कुछ लोगोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—(१) मेरे प्रति जो तेरा प्रेम है। (२) मेरी प्रीति जो तुझमें है और तेरी प्रीति जो मुझमें है। पं० रामकुमारजीने—'मेरी प्रीति जो श्रीरघुनाथजीमें है'—यह अर्थ किया है और इसकी पुष्टि टिप्पणी २ में की है। बैजनाथजीने भी यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि पतिवियोगमें प्राण त्याग देना ही योग्य है, शत्रुके वशमें रहनेसे मरण ही उत्तम है। कदाचित् त्रिजटा कहे कि प्रभुका संयोग शीघ्र होगा तो उसपर कहती हैं कि 'सुनै को श्रवन सूल सम बानी।' अर्थात् यह वचन सहे नहीं जाते। अर्थ (१) व (२) की पुष्टिमें यह कह सकते हैं कि सत्य प्रेम तो वह है जो वियोग होते ही निरुपाय प्राण निकल जायँ, बाहरी कोई साधन न करना पड़े। उसके लिये अग्नि या जलाशय आदिकी आवश्यकता नहीं। 'गीत-गोविन्द' वाले जयदेवकी धर्मपत्नी पद्मावतीजीने यही बात कही है। भक्तमाल देखिये। अतः यहाँ 'श्रीरामजीमें अपना प्रेम' सत्य करनेका भाव न होकर त्रिजटाका श्रीसीताजीमें और श्रीसीताजीका त्रिजटामें जो प्रेम है वही अभिप्रेत है। भाव यह कि अग्निमें जलाकर मेरा दुःख दूर कर तो जानूँ कि तेरा प्रेम सत्य है। विभीषणजीकी स्त्री और लड़कियाँ सब सीताजीसे प्रेम रखती थीं, यह बात वाल्मीकीयसे सिद्ध है। विभीषणजी इनके द्वारा जब-तब ढाढ़स दिया करते थे।

‡ मा० त० सु०—(१) जिसके द्वारा श्रीराघवजी प्राप्त हों, वा विरहाग्नि मिटे, वह उपाय सुन्दर ही होना चाहिये। अतः 'रचु बनाई' कहा। (२) एक बार 'माता' सम्बोधन कर चुकी फिर भी 'मातु-सम्बोधन' करके अति आर्तता और प्रीति जनायी जिसमें वह भी अधिक स्नेह करे। (विनम्र निवेदन है। दुष्कर कार्य कराना है। अतः बार-बार कहती हैं।)

मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना', 'तुलसी जिऐ जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि॥' (दोहावली ३१७)

टिप्पणी—४ *'सुनै को'* अर्थात् श्रवणशूलसम वाणी सुननेसे मरना अच्छा है, यथा—*'अरि बस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥'*

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजस सुनाएसि॥५॥
निसि न अनल मिल* सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी॥६॥

अर्थ—श्रीसीताजीके वचन सुनते ही उसने चरण पकड़कर समझाया और प्रभुका प्रताप, बल और सुयश सुनाया॥५॥ हे सुकुमारी! सुनो, रात्रिमें आग नहीं मिलती। ऐसा कहकर वह अपने घर चल दी॥६॥

नोट—१ माताकी ममता एक बहाना ढूँढ़ लेती है, नहीं तो रात्रिमें दीपककी आग तो मिल ही सकती थी। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ (क) *'पद गहि'* श्रीसीताजीने हाथ जोड़कर माता कहा तब त्रिजटाने चरण पकड़कर जनाया कि आप तो मेरी स्वामिनी हैं, मैं तो आपके चरणोंकी दासी हूँ। अथवा, आज्ञा न माननेके लिये अपराध-क्षमा-हेतु चरण पकड़े। अथवा, चरण पकड़कर (शपथपूर्वक) कहती है कि श्रीरामजी आयँगे, राक्षसोंको मारकर तुम्हें ले जायँगे, तुम धैर्य धारण करो, और धीरज देनेके लिये *'प्रभु प्रताप बल सुजस'* सुनाया। *'समुझाएसि'* और *'सुनाएसि'* दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। (ख) प्रभुका भाव कि वे समर्थ हैं। (ग) प्रताप, यथा—जयन्तकी कथा, बल, यथा-धनुषभंगकी कथा, सुयश, यथा—अहल्योद्धार अथवा यह कि प्रभु एक नारिव्रत हैं। तुमको कदापि नहीं भुला सकते।

नोट—२ प्रताप-बल-सुयशके विषयमें जनकपुरके दूतोंने श्रीदशरथजीसे अपने आँखों देखी बात कही है; यथा—*'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥ संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा॥·······जेहि कौतुक सिव सैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा॥ तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल॥'* (१। २९२) *'सुनि सरोष भृगुनायक आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए॥ देखि रामबल निज धनु दीन्हा।'* मन्दोदरीने भी सीयस्वयंवर, जयन्त, मारीच और लक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखके उदाहरण दिये हैं, यथा—*'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेउ असि मनुसाई॥·······बान प्रताप जान मारीचा।·······जनकसभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ सुरपतिसुत जानइ बल थोरा।'* (६। ३५) विराधवध, खरदूषणादिका वध और बालीका एक ही बाणसे वध सब बलके उदाहरण हैं। पुनः, सुयशसे यहाँ आर्त्तिहरण, दीनदयाल, प्रणतपाल, आश्रयदाता इत्यादि विरदसे जो सुन्दर यश फैल रहा है वह भी अभिप्रेत है; कारण कि इस समय श्रीजानकीजी बहुत आर्त हैं यथा—**'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥'** (१। ५९), **'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्।'** (वाल्मी० ४। १५। १९-२०) (अर्थात् वे साधुओंके आश्रयदाता तथा पीड़ितोंके रक्षक हैं, वे दुःखियोंके आश्रयस्थान हैं और यशके एकमात्र भाजन हैं), *'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ·······आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥'* (५। ४५),

* १—मिल-भा० दा०, बं० पा०। मिलु—का०, प०, मा०, म०। मानसमयंककार और उनके अनुयायी एवं पंजाबीजी अर्थ कहते हैं कि 'रातमें अग्निमें न मिलो अर्थात् न जलो'। वे कहते हैं कि सीताजी अपनेको मृतक मानकर भस्म हुआ चाहती हैं पर रात्रिमें मृतकको भी जलानेका निषेध शास्त्रोंमें है, यथा निर्णयामृते पारिजाते यमः—'सन्ध्यायां वा तथा रात्रौ दाहः पाथेयकर्म च। नव श्राद्धं च नो कुर्यात्कृतं निष्फलतां व्रजेत्॥' श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि रात्रिमें अग्नि माँगनेपर किसीको देना मना है इसलिये कि क्या जाने यह अग्नि क्या करेगा। अतः अग्नि नहीं मिलना कहा। यदि त्रिजटा रात्रि विशेष अग्निमें जलनेसे मना करती तो फिर सीताजी त्रिजटाके चले जानेपर अग्निकी चाह क्यों करतीं' यथा—'अवनि न आवत एकौ तारा।', 'सुनहि बिनय मम बिटप असोका।·······' इत्यादि। अतः त्रिजटाने अग्निमें जलनेके लिये नहीं मना किया था। अग्नि रात्रिमें नहीं मिलेगी ऐसा कहकर चली गयी। अतएव 'रात्रिमें अग्नि न मिलो' यह अर्थ गलत है। २—अर्धाली ५ 'सुनत·······' १२२० वाँ भेद, 'प्रभु' १२२० वाँ भेद है। अर्धाली ६ से १२ तक पायकुलक है।—(ब्र० चं०)

'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ! आयो सरन।'''''''सोक-श्रम-सीव सुग्रीव आरतिहरन। राम राजीव-लोचन बिमोचन बिपति।' (गी० ५। ४३), *'दीन-हित बिरद पुराननि गायो। आरत-बंधु, कृपालु, मृदुल-चित जानि सरन हौं आयो॥'''''''जानत प्रभु दुख-सुख दासनिको, तातें कहि न सुनायो॥'* (गी० ५। ४४) गीतावलीमें भी श्रीसीताजीका त्रिजटासे बात करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है। यथा—*'तुलसी त्रिजटा जानी, सिय अति अकुलानी मृदुबानी कह्यौ ऐहैं दवन-दुवन। तमीचर-तम-हारी सुरकंज-सुखकारी रबिकुल-रबि अब चाहन उवन॥'* (५। ४८) इसपर सीताजीने कहा है कि—*'तैं प्रभु सुजस-सुधा सीतल करि राखे, तदपि न तृप्ति लहे री।'* (५। ४९) इसके अनुसार *'दवन दुवन'* आदि विशेषण *'सुयश'* हैं।

☞उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि त्रिजटाने कहा होगा कि श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर आपकी चिन्ता मिटायी थी, रावण तो उठा भी न सका था, आपहीके लिये सहस्रबाहुके मारनेवाले परशुरामका गर्व हरण किया, आपहीके लिये जयन्तपर सींकका बाण चलाया जिससे तीनों लोकोंमें उसकी रक्षा कोई न कर सका, तब उनके बाणोंसे रावणकी रक्षा कौन कर सकता है। आपहीके लिये शूर्पणखाकी नाक काटी गयी और रावण-समान बली खरदूषणादिका संहार क्षणभरमें किया गया। वे सत्यसंकल्प हैं। उन्होंने तुम्हारे सामने ही—*'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* तब यह प्रतिज्ञा कैसे व्यर्थ हो सकती है। वे अवश्य और शीघ्र तुम्हारे दुःखको हरेंगे।

टिप्पणी—२ (क) विरह भारी है, समझानेसे संतोष न हुआ तब अग्नि न मिलनेका बहाना किया। (ख) *'सुकुमारी'* अर्थात् तुम्हारा शरीर अग्निका ताप सहने योग्य नहीं है, अत्यन्त कोमल है, यथा—*'अति सुकुमार न तनु तप जोगू।'* (बा० ७४)।—[नोट—भाव-मर्मज्ञ कवि *'सुकुमारी'* शब्दमें कितना भाव भर देता है—(१) माताके लिये पुत्री कोमल ही है, चाहे जो अवस्था हो। (२) श्रीसीताजी तो यों ही कोमल हैं, उसपर भी इस समय तो वे विरहजन्य शोकसे अत्यन्त क्षीण हो गयी हैं। (३) श्रीसीताजीको एक भोली-भाली कन्याकी तरह बहानेसे फुसलानेमें कितना वात्सल्य है? (लमगोड़ाजी)] (ग) *'निज भवन सिधारी'* इति।—अर्थात् उसने विचार किया कि जबतक मैं यहाँ रहूँगी तबतक ये ऐसे ही विलाप करती रहेंगी। अथवा, सयानी है, समझती है कि ये बड़ी बुद्धिमान् हैं जो मैं ठहरी तो ये अग्नि मिलनेका कुछ उपाय अवश्य बतायेंगी तब कुछ कहते न बनेगा और आज्ञा भंग होगी। अतएव यह कहकर कि अग्नि न मिलेगी वह तुरंत चल दी। पर, मुख्य तो रामजीकी इच्छा है। श्रीहनुमान्‌जीको संदेशा कहना और मुद्रिका देना है इसके रहते काम ठीक न होगा, प्रभुकी प्रेरणासे वह चल दी।

वि० त्रि०—*'सुनत बचन''''''''''सिधारी'*। त्रिजटाने देखा कि सीताजी प्राण देनेपर उतारू हैं, तब चरण पकड़कर समझाया, यथा—*'सिर पै तुम्हरे रघुनाथसे नाथ, अनाथ सी ह्वै किमि बैन उचारो। दशकंठको कुण्ठित साहस भी, तब चोरन की सरनी निरधारो। जनके पत की जेहि लाज सदा, बिजयानँद सो तुम्हरो रखवारो। आय गये प्रभु देर नहीं, यह जानि के जानकि धीरज धारो।'* तत्पश्चात् उसने निवेदन किया कि रात्रिको आग नहीं मिलती। पूर्वकालमें राजा लोग रात्रिके समय अग्निके बुझा देनेके लिये घंटा बजवा देते थे। उस समय सब लोग अपने घरोंकी अग्नि बुझा देते थे। अग्निके भयसे ही सम्भवतः ऐसा नियम था। यह शङ्का भी नहीं की जा सकती कि सोनेकी लङ्कामें अग्निसे भय कैसा? सोनेकी लङ्काका अर्थ इतना ही है कि यहाँ स्वर्णका प्रयोग अधिक था, यह अर्थ नहीं है कि वहाँ ईंटा, पत्थर, लकड़ी आदिसे काम ही नहीं लिया जाता था। ऐसा होता तो लङ्का-दाह कैसे हुआ?

नोट—☞३ तुलसीदासजीकी नाटकी-कलामें प्रगतियोंतकका संकेत कितना मर्मपूर्ण और फिल्मकलाका कितना साधक वा सार्थक है! (लमगोड़ाजी)

नोट—४ कुछ लोगोंका मत है कि त्रिजटा हनुमान्‌जीका आगमन जानती है, अतः वह जान-बूझकर घर चली गयी।

नोट—५*'पद गहि'* में दूसरा भाव यह है कि आप तो ईश्वर हैं, मैं तो आपकी दासी हूँ। आपका

श्रीरामजीसे सदा संयोग है, वियोग कभी नहीं। देखिये आपके चरणोंमें जो चिह्न हैं वे ही श्रीरामजीके चरणोंमें हैं तब वियोग कहाँ? यह वियोग देखनेमात्रको लीला हेतु है। नहीं तो रावणकी क्या बिसात थी कि हरण करता। (शिला)

नोट—६ त्रिजटासे श्रीसीताजीके बातचीतका प्रसङ्ग वाल्मीकीयमें नहीं है।

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥ ७॥
देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा॥ ८॥
पावक मय ससि स्त्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥ ९॥

अर्थ—(विपत्तियोंमें एकमात्र जो साथिनी थी वह भी चल दी, अतः आतुर होकर) श्रीसीताजी कहती हैं कि विधाता ही (मुझे) विपरीत हो गया है। न अग्नि मिलेगी न शूल मिटेगा॥ ७॥ आकाशमें अङ्गारे (चिनगारियाँ) प्रकट दिखायी देते हैं पर पृथ्वीपर एक भी तारा नहीं आता॥ ८॥ चन्द्र अग्निमय है पर मानो मुझे अभागिनी जानकर आग नहीं गिराता॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) '*कह*' शब्दसे जनाया कि त्रिजटाके जानेके बाद ये बातें श्रीसीताजीने मुखसे कहीं, तब इन्हें सुनकर हनुमान्‌जीने अग्निकी जगह मुद्रिका दी। (ख) विधिकी प्रतिकूलता यह है कि जो एक अपना हित करनेवाली थी, वह चली गयी। यथा—'*मो कहँ तिलकसाज सजि सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥*' (२। १८२। २) (ग) न पावक मिलेगा न दुःख दूर होगा। अर्थात् विरहकी पीड़ा मिटनेका दूसरा उपाय नहीं है, शरीर छूटनेपर ही मिटेगी। शूल, यथा—'*सुनै को स्त्रवन सूल सम बानी।*'

टिप्पणी—२ '*देखिअत प्रगट*……' यह विधाताकी प्रतिकूलता दिखाती है कि अङ्गारे दिखाता है, देता नहीं। भाव कि यदि न देख पड़ते तो संतोष होता कि अग्नि नहीं है, क्या करें? '*प्रगट*' का भाव कि त्रिजटाने कहा था कि रात्रिमें आग नहीं मिलती; पर आग तो प्रकट दीख रही है, विधिके पास होनेसे हमको नहीं मिलती। अङ्गारे क्या हैं, यह कवि स्वयं अगले चरणोंमें स्पष्ट करते हैं कि तारेहीको अङ्गार कह रही हैं। '*एकौ*' अर्थात् आकाशमें अगणित हैं, पर मिलते एक भी नहीं। तात्पर्य यह कि एक भी मिल जाता तो काम चल जाता। इससे यह ज्ञात होता है कि वे स्वयं ही चिता लगानेका विचार कर रही हैं। अग्नि ही चाहिये, लकड़ी तो बागमें बहुत है इसीसे त्रिजटाने लकड़ी न मिलनेका बहाना न किया।

नोट—१ कोई उद्योग नहीं फुरता; विरह कैसे मिटे? विरहकी अन्तरज्वालाके कारण अत्यन्त शोक और व्याकुलता है। इसीसे इस समय तारागण अङ्गारे-से और शीतप्रधान शशि भी अग्निमय ही दीखता है। अधिक विरहाग्निके संतापमें ऐसा ही देख पड़ता है। विरहिणियोंको सभी सुखद वस्तुएँ दुःखद होती हैं। यथा—'*सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ। अगिनिताप ह्वै हम कहँ सँचरत आइ॥*', '*डहकु न हैं उजियरिया निसि नहिं घाम। जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥*' (बरवै० ३३, ३७) यहाँ विषाद-संचारी भाव है। ☞ तुलना कीजिये श्रीरामजीके सुबेलपर्वतपर शशिकी कालिमा-सम्बन्धी कथनसे। '*मानहुँ*' से फिर उत्प्रेक्षा ही तो है। '*देखिअत प्रगट*……' में वीरकविजी 'द्वितीय निदर्शना' और भानुकविजी 'हेत्वापह्नुति' अलंकार मानते हैं।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीकी आँखों और चित्तको सब कुछ पावकमय ही देख पड़ता है। कितना व्यथा और तन्मयताका चित्र यहाँ खड़ा कर दिया है।

टिप्पणी—३ (क) '*पावकमय*' है अर्थात् अग्नि भरे हुए बैठा है, पर उगल नहीं देता। अवनिपर तारा आ जाय या चन्द्रमा वहींसे अग्नि टपका दे, गिरा दे, दोनोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे काम चल सकता है। आवे या स्त्रवे। अतः दोनों शब्द दिये। (ख) '*मानहुँ मोहि जानि हतभागी*' इति। पति-वियोग होनेसे हतभाग्य समझता है—अभागेका मनोरथ पूरा नहीं होता, इसीसे मुझे अग्नि देकर मेरा मनोरथ पूरा नहीं करता (पहले विधाताको दोष दिया फिर भाग्यको, क्योंकि पहले विधाता लिखते हैं तब भाग्य बनता है। भाग्य अपने कर्मानुसार बनता है। '*हतभागी*' कहकर विधाताको भी निर्दोष ठहराया, अपने कर्मको ही दोषी ठहराया)।

सुनहु बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥ १०॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन* करहि निदाना॥ ११॥

अर्थ—(जिस अशोक वृक्षके नीचे बैठी हैं उसीको सम्बोधन करती हुई कहती हैं—) हे अशोक वृक्ष! मेरी विनती सुन। अपना नाम सत्य कर, मेरा शोक दूर कर॥ १०॥ तेरे नये किसलय (कोमल नये निकले हुए पत्ते वा कल्ले) अग्निके समान हैं। अग्नि दे और मेरे शरीरका अन्त कर दे॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनहु बिनय मम·······'* इति। श्रीसीताजी इस समय बड़ी विरहाकुल हैं इससे जड पदार्थ वृक्षसे सुननेको कहती हैं; यथा—*'भये बिकल जस प्राकृत दीना।·······पूछत चले लता तरु पाँती॥'* (३। ३०), (ख) *'बिटप'* परोपकारी होते हैं, यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* (७। १२५। ६) इसीसे अशोकके साथ *'बिटप'* शब्द भी दिया। तात्पर्य यह कि तुम परोपकारी हो, उसपर भी तुम्हारा नाम 'अशोक' है, अपने नामकी लज्जा सबको होती है (ग) *'सत्य नाम करु'* अर्थात् मेरे दुर्भाग्यकी ओर दृष्टि न कर, किंतु अपने नामकी ओर देख और चन्द्रमाकी तरह न कर। मुझे शोकरहित करके अपने नामकी सत्यता प्रकट कर। आगे शोक हरनेका उपाय बताती हैं।

टिप्पणी—२ *'नूतन किसलय अनल समाना·······'* इति। (क) भाव कि तेरे पास अनल बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, उसीसे मेरा शरीर भस्म हो जाय, मुझे लकड़ी जुटाकर चिता भी न बनाना पड़े, न उसमें आग लगाकर स्वयं जलना पड़े। (ख) शंका—मरनेके तो बहुत उपाय हैं, यथा—*'तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।'* ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती हैं? समाधान—अग्नि इससे माँगती हैं कि सती अग्निमें जलकर मरती है, अथवा जहाँ बिम्ब है वहीं प्रतिबिम्ब जाकर मिलना चाहता है। बिम्ब अग्निमें है, यथा—*'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा।'* अथवा, [अग्नि माँगना भी प्रभुकी इच्छासे हुआ। पहरेमें हैं; समुद्रमें जाकर डूब नहीं सकतीं। अस्त्र-शस्त्र कोई देगा नहीं। पुनः, यहाँ हनुमान्‌जी अशोकपर मुद्रिका लिये बैठे हैं। सबसे अग्नि माँगते-माँगते अशोकसे भी माँगेंगी। चमकदार अँगूठी वहाँसे वे डालेंगे तब स्वाभाविक उसपर दृष्टि जायगी। यदि अग्नि न माँगतीं तो ऊपरसे अँगूठीके गिरनेपर दृष्टि उस ओर न जाती। यह सब हरि-इच्छासे हुआ। पुनः ये वियोगिनी हैं, पति-वियोगिनीका अग्निमें जलना ही विहित है]।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीने त्रिजटासे आग माँगी; यथा—*'मातु अनल पुनि देहि लगाई'* और अशोकसे भी माँगा, यथा—*'देहि अगिनि तन करहिं निदाना'*, किन्तु आकाश और चन्द्रमासे माँगा नहीं; इतना ही कहा कि *'देखिअत प्रगट गगन अंगारा।·······पावकमय ससि स्रवत न आगी'*, इसका कारण यह है कि चन्द्रमा *'बिरहिनि दुखदाई'* है, वह कदापि अग्नि न देगा, क्योंकि अग्नि देनेसे सीताजीका दुःख मिट जायगा और ऐसा करना उसके स्वभावके विरुद्ध होगा, अतः उससे नहीं माँगा। चन्द्रमा तारागणका पति है, अतः वे भी अपने स्वामीके प्रतिकूल नहीं कर सकते, इसीसे उनसे भी न माँगा।

नोट—१ त्रिजटा और श्रीसीताजीके संवादमें अपने-आपको अग्निमें समर्पण कर देनेके लिये सीताद्वारा त्रिजटासे अग्नि-याचनाका वर्णन अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें नहीं है। यह भाग प्र० रा० नाटक अंक ६ में भी है। परन्तु दोनों वर्णनोंको बारीकीसे देखनेपर यही दीखेगा कि निपुणता और मार्मिकता गोसाईंजीमें ही विशेष पायी जाती है। (मा० हं०) यह प्रसंग गोस्वामीजीका ही 'वस्तु-विन्यास-कौशल' प्रकट करता है। (पं० रामचन्द्र शुक्लजी)

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥ १२॥
सो०—कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥ १२॥

अर्थ—(कवि कहते हैं) श्रीसीताजीको विरहसे परम व्याकुल देखकर वह क्षण कपिको कल्पके समान

* तन—१७२१, १७६२, भा० दा०, कोदवराम। जनि—१७०४, छ०, गी० प्रे०, ब्र० चं। भा० दा० में हाशियेपर 'जनि' बनाकर फिर उसपर हरताल लगाया गया है। 'जनि' पाठसे अर्थ होगा—'कुछ सोच-विचार न कर, कारण न विचार।'

बीता॥ १२॥ तब कपि श्रीहनुमान्‌जीने हृदयमें विचारकर अँगूठी गिरा दी, मानो अशोकने अंगारा दे दिया। यह सोचकर श्रीसीताजीने हर्षित हो उठकर उसे हाथमें ले लिया॥ १२॥

टिप्पणी—१ *'देखि परम बिरहाकुल सीता।.........'* इति। (क) अर्थात् कुछ खबर न रही कि क्या करें। देखा कि अब ये शरीर छोड़ना ही चाहती हैं इसलिये शीघ्र मुद्रिका डाल दी। (ख) पूर्व परम दीन देखकर परम दुःखी हुए थे; यथा—*'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।'* (५। ८) अब परमविरहाकुल देखकर क्षण कल्पके समान बीता। दोनोंका उत्तरोत्तर अधिक दुःख कहा। जब देखनेवालेको क्षण कल्पसदृश बीत रहा है तब श्रीसीताजीको जैसा बीता वह क्या कहें? तीन लवका एक निमिष, तीन निमिषका एक क्षण, यथा—'**निमिषस्त्रिलवो ज्ञेयोऽम्नातस्तु त्रयक्षणम्**'। और हजार चतुर्युगका एक कल्प होता है।

नोट—१ क्षणकी मात्राके विषयमें बहुत मतभेद है। पतञ्जलिके मतानुसार 'कालका वह छोटा भाग जिसके विभाग न हो सकें 'क्षण' है'। कोई पल या निमिषके चतुर्थांशको 'क्षण' कहते हैं। मानसमें यह शब्द जहाँ-तहाँ 'बहुत थोड़े काल' के अर्थमें आया है; यथा—*'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।'* (३। २०), *'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।'* (३। २२), *'सत जोजन आयउँ छन माहीं।'* (३। २५) इत्यादि क्षणभरमें, पलभरमें इत्यादि अत्यन्त अल्पकालवाचक मुहावरे हैं।

पं० रा० कु०—कल्प-समान बीतनेका भाव कि क्षणभर तो कुछ उपाय करते न बना। क्षण कहकर यहाँ कालका नियम भी कर दिया कि यह परमव्याकुलता क्षणभर ही रही कि हनुमान्‌जीने मुद्रिका गिरा दी।

नोट—२ *'तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥'* विचार करतेहीमें रावण आया, उसकी बातें सुनीं, राक्षसियोंका त्रास देना देखा, त्रिजटाके स्वप्नका वृत्तान्त सुना। यह विचारने लगे कि श्रीसीताजीको तो मैंने ढूँढ़ लिया, 'सीता' यही हैं। पर इनसे बात कैसे करूँ? यदि बिना बात किये लौट जाऊँ और श्रीरामजीको सेनासहित यहाँ लाऊँ तो कहीं इस बीचमें ये आत्मघात ही न कर लें जिससे सब कार्य ही व्यर्थ हो जायगा। इतनेमें निशाचरियाँ भी हट गयीं और त्रिजटा भी चली गयी। एकान्त मिला, पर डर यह था कि यदि प्रकट होकर बातें करूँ तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर डरकर चीख न मारें जिससे राक्षसियाँ आ पड़ें और काम बिगड़ जाय। भगवत्कृपासे योग लग गया कि वे परमविरहाकुल हो अशोकसे अंगार माँग रही हैं। इस समय वे मुद्रिकाको अवश्य अशोकका दिया हुआ अंगार समझकर उठा लेंगी। किसीने इनको अग्नि न दी; अब अशोकसे माँगती हैं, यदि अब भी न पावेंगी तो मरण अवश्य होगा। यह सोचकर उन्होंने उसी समय मुद्रिका गिरा दी।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने सोचा कि अशोक वृक्ष है और वृक्ष वानरकुलका घर है। यदि अशोक तरु इनका शोक न हरे तो हमारे कुलकी निन्दा होगी। अतः यह विचारकर मुद्रिका गिरा दी, फिर रामकथा कही और बुलानेपर निकट जायँगे।

☞ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि—वह सारा सीन नाटकी-कलाकी जान ही है यहाँपर भी (उपर्युक्त *'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला।'* से *'मानहु मोहि जानि हतभागी॥'* तक तथा उसके आगे भी जो *'बिटप असोका'* को संबोधन करके कहा गया है वह) स्वगत वार्ता (Soliloquy) कितनी सुन्दर और उपयोगी है—यह आप (उनपर दी हुई) टिप्पणियोंमें देख ही चुके। अब अँगूठीका ठीक समयपर गिराना सोनेमें सुगंधकी तरह कलाको सुन्दर बना देता है।

टिप्पणी—२ (क) *'बिचार'* ही शब्दपर प्रसंग छोड़ा था यथा—*'करइ बिचार करउँ का भाई।'* अब वहींसे प्रसंगको फिर उठाते हैं। कपिने हृदयमें विचार किया कि यह अच्छा मौका है, श्रीसीताजी अशोकसे अग्नि माँग रही हैं, मैं उसके स्थानपर उन्हें मुद्रिका दे दूँ। मुद्रिकामें माणिक्य-नगीना था; इसीसे उसे अंगारकी उपमा दी। नीचे सोना देकर माणिक्य जड़नेसे ललाई बहुत आ जाती है। (ख) *'जनु असोक अंगार दीन्ह'* इस कथनसे अशोक नामकी सत्यता रह गयी, क्योंकि अशोकसे मुद्रिका गिरी और उसीसे शोकका नाश हुआ। (ग) *'हरषि उठि कर गहेउ'* से पाया गया कि उनका विरह सत्य है, वे हृदयसे चाहती थीं कि अग्नि मिले। उठकर लिया अर्थात् वह मुद्रिका इनके हाथकी पहुँचमें न थी, इससे उठकर

लिया और न दूर ही गिरी, क्योंकि दूर गिरती तो *'धाय गहे'* ऐसा पद लिखते।

टिप्पणी—३ इस प्रसंगमें पाँचों तत्त्व कहे गये। इनमेसे चार तत्त्वोंसे जानकीजीका अग्नि माँगना दिखाया गया, *'देखिअत प्रगट गगन अंगारा'* यह आकाशतत्त्व है।—(१)। *'पावकमय ससि स्त्रवत न आगी'*, यह जलतत्त्व है। भारतमें चन्द्रमाको जलमय कहा है—(२)। *'सुनहि बिनय मम बिटप असोका'*, यह पृथ्वीतत्त्व है—(३)। अग्नि माँगती ही हैं—(४)। इनसे अग्नि माँगा कि जहाँसे न मिल सके और वायुतत्त्वसे न माँगा कि जिससे अग्निकी उत्पत्ति है, (यथा—**'आकाशाद्वायुः।—वायोरग्निः।'** (तैत्ति० वल्ली २ अनु० १), और जहाँसे आग मिल सकती। वायुपुत्र मुद्रिका लिये बैठे ही हैं; अशोकसे माँगते ही मिली।

नोट—३ *'कपि करि.........'* त्रिकल सोरठा है (ब्र० चं०)।

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥ १॥

अर्थ—तब उन्होंने श्रीरामनाम-अङ्कित अत्यन्त सुन्दर और मनोहर मुद्रिका देखी॥ १॥

नोट—१ भाव कि अग्निके धोखे अँगूठी मुट्ठीमें ली; जब गर्म न लगी तब मुट्ठी खोलकर देखा, यथा—*'तब लागी सियरे हाथ। यह आगि कैसि है नाथ॥'* (रामचन्द्रिका) देखा, तो मुद्रिका थी और अच्छी तरह देखा, तो उसे रामनाम-अङ्कित पाया।

टिप्पणी—१ (क) *'मनोहर'* का भाव कि रामनाम मनोहर है, यथा—*'आखर मधुर मनोहर दोऊ'*। और यह मुद्रिका उस नामसे अङ्कित है, अतः यह भी मनोहर है। (ख) *'राम नाम अंकित'* से पाया गया कि श्रीरामजीकी मुहर है। जिसकी मुहर होती है उसीका नाम लिखा रहता है। अथवा, पतिके प्रियके हेतु पतिके नामकी अँगूठी स्त्री धारण करती है। *'अति सुंदर'* का भाव कि बनाव सुन्दर है, श्रीरामनाम-अङ्कित होनेसे *'अति सुंदर'* है। (ग) मुद्रिका स्त्रीलिङ्ग है। इसके विशेषण *'मनोहरि'* और *'अति सुंदरि'* स्त्रीलिङ्ग होने चाहिये थे, सो न देकर विशेषण पुँल्लिङ्ग दिये। ऐसा करके गोस्वामीजीने यह सूचित किया कि *'मुँदरी'* का नाम अब कङ्कन हो गया है, यथा—*'तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति एहि नाम। कंकनकी पदवी दई तुम बिनु एहि कहँ राम॥'* (रामचन्द्रिका) पुनश्च, यथा—**'एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना रामस्त्वद्विरहेण कंकणपदं ह्यस्यै चिरं दत्तवान्॥'** (हनुमन्नाटक ६। १६) (अर्थात् आपके वियोगसे इस अँगूठीको श्रीरामचन्द्रजीने कङ्कणका स्थान दे दिया है।)

मा० त० सु०—(१) हिन्दीकाव्यमें स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गका नियम कहीं-कहीं नहीं भी रहता है, यथा—*'रामनाम बिनु गिरा न सोहा'*, *'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।'* पुनः (२) *'राम नाम अंकित अति सुंदर'* से सूचित हुआ कि कोई स्त्रीलिङ्ग हो या पुँल्लिङ्ग श्रीरामनाम-अङ्कित होनेसे वह 'अति सुन्दर' हो जाता है। पुनः (३) *'मनोहर'* और *'अति सुंदर'* रामनामके विशेषण भी माने जा सकते हैं।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च मैथिली। प्रेषितं रामचन्द्रेण सुवर्णस्याङ्गुलीयकम्॥'** (हनु० ६। १५) अर्थात् सुन्दर वर्णवाले; सुन्दर वर्ण (रामनामाक्षर) युक्त, सुवर्ण (दस माशे) की यह सुवर्णकी अँगूठी श्रीरामचन्द्रजीने तुम्हारे लिये भेजी है। पुनश्च—**'अत्राङ्गुलीयकमणौ प्रतिबिम्बमासीद्रामस्य सादरमतीव विलोकयन्ती॥'** (हनु० ६। १७)

श्रीलमगोड़ाजी—यह सुन्दरकाण्ड ही जो है वह सुन्दर है। इसमें *'एक सुन्दर भूधर'* का दृश्य सुन्दर, श्रीरामनामाङ्कित अँगूठी 'अति सुन्दर' और आगे कवि कहेंगे कि कथा ही 'अति सुन्दर' है।

नोट—३ प्रथम चरण १०९९ वाँ भेद और दूसरा चरण ११९३ वाँ भेद हैं। (ब्र० चं०)

चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥ २॥
जीति को सकै अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई॥ ३॥

अर्थ—श्रीसीताजी अँगूठीको पहचानकर उसे चकित (आश्चर्यान्वित) होकर देख रही हैं। हर्ष और विषादसे मनमें व्याकुल हो गयीं॥ २॥ श्रीरघुनाथजी तो अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है (अर्थात् कोई नहीं)? और मायासे ऐसी अँगूठी बनायी नहीं जा सकती॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'चकित चितव.........'* इति। (क) *'चकित चितव'* का अर्थ चारों ओर देखना नहीं है।

जहाँ चारों ओर देखनेका भाव कहना होता है वहाँ कवि चकित लिखकर 'चहुँदिशि' पृथक् लिखते हैं। यथा—'**चितवति चकित चहूँ दिसि सीता**' और '*चकित बिलोकत सकल दिसि*……' (१। २२९) में। यदि '*चितव चकित*' से चारों दिशाओंमें देखनेका भी ग्रहण होता तो 'सकल दिशि' या '*चहूँ दिसि*' लिखनेका प्रयोजन ही क्या था? यहाँ आश्चर्ययुक्त होकर देखना अर्थ है, यथा—'*जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥*' (१। २४४) (ख) मुद्रिका मिलनेका 'हर्ष' और यहाँ कैसे आ गयी यह 'विषाद' हुआ, जैसा श्रीसीताजी आगे स्वयं कहती हैं—'*जीति को सकै*……' (ग)'*हृदय अकुलानी*' का भाव कि प्रथम विरहमें व्याकुल थीं तब मुखसे कुछ कहती रहीं, अब हृदयमें जो हर्ष और विषाद हुआ उससे हृदयमें व्याकुल हो गयीं, मुँहसे कुछ कहतीं नहीं, यथा—'*हृदय हरष-बिषाद अति पति-मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि?॥*' (गी० ५। २)

नोट—१ '*हरष*' इति। वह पहचानकर कि यह अपने प्राणपतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाला आभूषण है; उनको प्रियतमके मिलनेका-सा सुख हुआ; यथा—'**गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्। भर्तारमिव सम्प्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥**' (वाल्मी० ५। ३६। ४)

नोट—२ (क) आश्चर्य, हर्ष, विषाद और व्याकुलता कई भाव एक साथ उदय हुए हैं। यह 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। (ख) प्रियतमका दिव्य भूषण देख धैर्य, गाम्भीर्य, सौशील्य आदि अनन्त गुणयुक्त मनोहर स्वरूप स्मरणकर हर्ष हुआ। 'राक्षसपुरीमें कैसे आयी' इस बातके जाननेके उद्योगमें असमर्थ होनेसे यहाँ विषाद संचारीभाव हुआ। यह सोचकर '*अकुलानी*' कि अब क्या प्राणनाथसे सदाके लिये वियोग हो जायगा? इसीपर विचार करने लगीं कि ऐसा सम्भव नहीं। (मा० त० सु०) '*चकित*……*पहिचानी*' चण्डी है और '*हरष*……*बरनै लागा*' पायकुलक है। (ब्र० चं०)

नोट—३ '*जीति को सकै*' से प्रकट करती हैं कि वे श्रीरामजीका प्रभाव जानती हैं कि वे अजेय हैं। '*अजय रघुराई*' से जनाया कि वे उत्साही, पुरुषार्थी, वीर्यवान्, दयालु, कृतज्ञ, विक्रमी और प्रतापी हैं, जिन गुणोंसे युक्त होनेसे शत्रु सदा डरते हैं। यथा—'**उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता। विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे॥ चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः। जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत्॥ न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः। अहं तस्यानुप्रभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा॥**' (वाल्मी० ५। ३७। १५—१७)

टिप्पणी—२ '*जीति को सकै*…' इति। (क) ऐश्वर्यमें श्रीजानकीजी जानती हैं कि श्रीरामजी अजेय हैं। अर्थात् ईश्वरको जीव कैसे जीत सकता है? यथा—'*सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥*' (२। १८९) और माधुर्यमें आँखोंसे देखा है कि १४ हजार सेनासहित खरदूषणको क्षणभरमें जीत लिया। (ख) '*रघुराई*' का भाव कि एक रघुवंशीको ही कोई नहीं जीत सकता और ये तो रघुवंशियोंके राजा हैं। यथा—'*रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥ कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥*' (१। २५३)

टिप्पणी—३ (क) '*माया तें असि रचि नहिं जाई*' इति। ये जानती हैं कि मायासे नहीं बन सकती, क्योंकि ये सब मायासे परे हैं, सब माया इनकी मायाके भीतर है, यथा—'*लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहू॥*' (ख) '*असि*' का भाव कि जैसी वह मुद्रिका है, उसके कारणको सीताजी ही जानती हैं, दूसरा नहीं जान सकता; इसीसे ग्रन्थकारने कारण नहीं कहा। (ग) यहाँ सीताजी राक्षसोंके बलको और मायाको 'निवारण' करती हैं कि न तो शरीरके बलसे कोई इसे ला सकता है और न माया ऐसी बना सके। यह सच्ची है और सच्ची मुद्रिकाका आना कैसे सम्भव है?—यह संदेह हुआ। [(घ) मायिक पदार्थ मेरे मनको नहीं हर सकता पर यह मेरे मनको हर रही है; अतः अवश्य सच्ची है।]

वि० त्रि०—यह मुदरी पहिचानी हुई है; क्योंकि इसने ब्याहके बाद ही कोहबरमें जाते समय सीताजीके मनको चुराया था, यथा—'*पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चित लेई॥*' उसी चोरको सरकारने चोरीसे हनुमान्‌जीके द्वारा भेज दिया। यह मुदरी सुनती है, बोलती है, सीताजीके पूछनेपर इसने कहा—'*सदल*

सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ। सील सदन सनेह सागर सहज सरल सुभाउ॥ नींद भूख न देवरहिं परिहरे कर पछिताउ""कियो सीय प्रबोध मुदरी, दियो कपिहि लखाउ।' इसीसे भगवतीने कहा *'माया ते असि रचि नहिं जाई।'*

नोट—४ 'रावणने तो मायाके राम-लक्ष्मण-वानर बना लिये तब मुद्रिका बना लेनेमें क्या बड़ी बात है, जो कहा कि *'माया ते असि रचि नहिं जाई।'* यह शङ्का उठाकर मा० म०, मा० शं०, शिला आदिने इसका समाधान यों किया है—(१) यह रामनाम-अङ्कित है। नाम निर्गुण और मायारहित है, वही अँगूठीमें विशेष प्रकाश कर रहा है। जो जैसा प्रभाव नामका जानता है उसको वैसा ही प्रकाश उसमें देख पड़ता है, अतः वे जान गयीं कि यह मायाकी रची नहीं है (शिला)। (२) निशाचरने मायाके राम-लक्ष्मणादि बनाये, पर प्रभुके सामने (बाण लगते) वे नष्ट हो गये। माया उनके समीप रह नहीं सकती—*'जिमि रबि उये जाहिं तम फाटी।'* और श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं, केवल रूपमात्रका भेद है; तब यदि मायाकी होती तो कर-स्पर्श होते ही वह नष्ट हो जाती। (मा० त० सु०) (३) कोई ऐसा कहते हैं कि 'अस' अर्थात् अजेयका पराजय होना, यह मायासे नहीं हो सकता। पर पाठ *'असि'* है। पुनः, (४) मुद्रिका निशाचरी मायासे 'अदेख' है, वह माया देखी वस्तु बना सकती है, अनुभवकी बातमें उसका गम्य नहीं (शिला)।'

नोट—५ वह मुद्रिका श्रीरघुनाथजीकी निजी चीज थी, जिसको महारानीजीने हजारों बार अच्छी तरह देखा था। उसकी विशेष रेखाएँ, चिह्न, बनावट आदिकी मुख्य-मुख्य बातें (विशेषताएँ) जो महारानीजीको मालूम हैं वह किसी औरको मालूम नहीं हो सकतीं। हूबहू जैसा-का-तैसा नकल करनेवाला भी ठीक वही रूपरेखा जो महारानीजीकी निगाहोंमें जँची हुई है तभी रच सकता है जब महारानीजीके अन्तर-हृदयकी बातोंसे अभिज्ञ हो। राक्षसी माया वहाँतक कैसे पहुँच सकती है? जब उन विशेष चिह्नोंको उन्होंने पहचान लिया तब उन्हें निश्चय हो गया कि मायासे ऐसी नहीं रची जा सकती।

इस समय राक्षसी माया और ईश्वरी मायाका मुकाबिला है। यदि रावणको यह पता लग जाय कि मैं मायाकी सीताको हर लाया हूँ, ये वास्तविक सीता नहीं हैं, तो वह वृथाके झगड़ेमें क्यों पड़े? और यदि श्रीरघुनाथजीके दलवालोंको यह पता लग जाय कि वास्तविक सीताहरण नहीं हुआ है तो भगवान्‌की लीलाकी यहीं समाप्ति हो जाय। यहाँ भगवान्‌की माया जो महारानीका अभिनय कर रही है वह बहुत अच्छी तरह जानती है कि राक्षसी माया ईश्वरी मायाके सामने कहाँतक चल सकती है; इसीलिये उसे निश्चय है कि यह राक्षसी मायाके द्वारा रची नहीं जा सकती; क्योंकि यह मुद्रिका भगवान्‌का पार्षद है, दिव्य है, चेतन है, चिदानन्दमय है। उनके विग्रहमें पार्षद ही आभूषणादिरूपमें रहते हैं, जो ईश्वरी मायासे भी परे हैं और सायुज्यमुक्तिपद भोग रहे हैं। उनकी छाँहको भी राक्षसी माया छू नहीं सकती।

हनु० ना० में मुद्रिकासे श्रीजानकीजीका प्रश्न करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है और गीतावलीमें भी। यथा—**'मुद्रे सन्ति सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः सुखम्। सन्ति स्वामिनि मा विधेहि विधुरं चेतोऽनया चिन्तया॥'** (६। १६), *'बोलि, बलि, मूँदरी! सानुज कुसल कोसलपालु""।', 'सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसल राउ।""कियो सीय-प्रबोध मुँदरी""॥'* (सु० ३-४)—इन उद्धरणोंसे उसका दिव्य और चेतन होना स्पष्ट है। वैसे तो रावणने मायासे रामलक्ष्मणादि रूप बनाकर धोखा देना चाहा और मायाकी सीताने ऐसे अवसरपर राक्षसी मायाकी असलियतको जानते हुए भी विलाप आदिका लीलानाट्य किया है। परंतु यहाँ तो कोई माया है ही नहीं। इसका निश्चय होनेमें ईश्वरी मायाको क्या कठिनाई हो सकती है?

* मुद्रिका *

☞ नोट—६ किसी-किसीके विचारसे यह मुद्रिका श्रीसीताजीकी है, जो केवटको देनेके लिये उन्होंने उतारी थी। उनके मतसे श्रीरामजी 'विशेष उदासी तापस वेष' के कारण स्वर्णमुद्रिका आभूषण नहीं धारण किये थे। यह मुद्रिका श्रीरामजीकी है, यह प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थों तथा गोस्वामीजीका भी मत है। प्रमाण ये हैं—(१) **'ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम्। अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः॥'** (वाल्मी० ४। ४४। १२) इसपर

श्रीगोविन्दराजजी भूषण-टीकामें लिखते हैं कि—'ननु त्यक्तसकलसाधनस्य वनवृत्त्या वर्तमानस्य कुतोऽङ्गुलीयकमिति चेत्, इदमेतत्कार्यार्थरक्षितवान् अतएवाङ्गुलीयमुन्मुच्य नोक्तम्''' (२) 'गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्॥' (वाल्मी० ५। ३६। ४) अर्थात् सीताजीने अपने पतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाली उस अँगूठीको हाथमें लेकर और देखकर। (३) 'अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम्। मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीयतां रहः॥' (अध्यात्म० ४। ६। २८-२९) अर्थात् मेरी इस उत्तम एवं मेरे नामके अक्षरोंसे अंकित मुद्रिकाको निशानीके तौरपर सीताजीको देना। (४) 'अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम्। सीतायै दीयतां साधु मन्नामाक्षरमुद्रितम्॥' (अध्यात्म० ५। ३। ३४), (५) 'ततो रामो मुद्रिकां स्वां ददौ मारुतिसत्करे॥' (आनंद० सार० ८, ९३), (६) 'तां राममुद्रिकां दृष्ट्वा नत्वा तामब्रवीत् कपिम्॥' (आनंद० सार० ९। ११४), (७) अपश्यन्मुद्रिकां रम्यां रामनामाङ्कितां शुभाम्। तदातिचकिता सीता ज्ञात्वा तां राममुद्रिकाम्॥' (वसिष्ठ रा० ३। ९। २८) (८)—'अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकम्। भवत्याः स्मरतात्यर्थमर्पितः सादरं मम॥' भट्टिकाव्य ८। ११८), (९) या शैशवावधिमनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्गुली प्रणयिनी सुभगा सुवृत्या। अन्येव सा जनकराजसुता कथं नु लंकामुपागतवती मणिमुद्रिकेयम्॥' (प्रसन्नराघवना० ६। ३८), (१०) 'किमिदं हस्तेऽस्ति? तन्मुद्रिका दत्ता तेन तवैष तां निजकरात्॥' (हनु० ना० ६। १४), (११)—*'निरखि-निरखि पिय मुद्रिकहिं बरनति हैं बहु भाइ।'* (रामचन्द्रिका १३। ७८) पुनश्च—*'सुखदा सिखदा अर्थदा यशदा रसदातारि रामचन्द्रकी मुद्रिका किधौं परमगुरुनारि॥'* (१३। ८३), (१३)—*'लई सिया आतुर हुलसि पियमुदरी पहिचानि॥'* (रामरसायन ८। ११९), (१४)—*'करमुद्रिका चोरि चितु लेई।'* (मानस० १। ३२७) वैसे ही यहाँ *'तब देखी मुद्रिका मनोहर'।* *मनोहर*=चित्त चुरा लेनेवाली। (१५) *'पाइ नाथ कर-मुद्रिका सियहिय हरष बिषाद। प्राननाथ प्रिय सेवकहि दीन्ह सु आसिरबाद॥'* (रामाज्ञाप्र० ५। १६), (१६)—*'हृदय हरष-बिषाद अति पति-मुद्रिका पहिचानि॥'* (गी० ५। २)—(पं० रामकुमारदासजी)। विशेष उदासी वेषके कारण यदि प्रथम ही करमुद्रिकाका त्याग कर देना आवश्यक समझा गया होता तो श्रीसीताजीकी मुद्रिका भी तो अपने हाथमें न धारण कर सकते। 'उदासी' से तो केवल यही अभिप्राय था कि नगरमें न जायँ। यही बात, निषादराज, सुग्रीवजी तथा विभीषणजीसे श्रीरघुनाथजीने कही है। धनुष, बाण, तरकश, तलवार, भाई और स्त्रीको साथ लेना भी तो *'तापस बेष बिसेषि उदासी'* में नहीं आ सकता था। वस्तुतः लीलाकार्यके लिये जो भी आवश्यक था वह सब साथ था।

सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥ ४॥
रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥ ५॥

अर्थ—श्रीसीताजी मनमें अनेक तरहसे विचार कर रही हैं। उसी समय श्रीहनुमान्जी मधुर वचन बोले॥ ४॥ वे रामचन्द्रजीके गुण वर्णन करने लगे (जिसके) सुनते ही सीताजीका दुःख दूर हो गया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'नाना बिचार'* का भाव यह कि मुद्रिका मनोहर है। उसने सीताजीका मन हर लिया है। इसीसे उसके विषयमें अनेक विचार कर रही हैं कि यहाँ कैसे आयी। [कहीं ऐसा तो नहीं है कि लक्ष्मण फल-मूल लेने गये हों, श्रीरामजी सो गये हों, कोई पखेरू ले आया हो। वा, श्रीरामजीने हमारे हरणका अपराध समझ उनको त्याग दिया हो, तब अकेले सोते कोई चुरा लाया हो। वा, हमारे वियोगमें उन्होंने प्राण छोड़ दिया हो। तब कोई ले आया हो। वा, व्याकुलताके कारण मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ इत्यादि। (रा० शं०)] कोई विचार ठीक नहीं होता; इसीसे विचार-पर-विचार उठते जाते हैं, नहीं तो *'नाना बिचार'* का प्रयोजन न था।

नोट—१ नाटकीयकलामें इस *'मन बिचार'* और पहेलीवाली स्वगत वार्ताका अन्तर विचारणीय है। *'नाना'* शब्दसे फिर श्रीतुलसीदासजीकी संकेतकलाका पता लगता है, केवल उदाहरणमात्रके लिये दो विचार लिख भी दिये। (लमगोड़ाजी) *मधुर*=अमृतसम, यथा—*'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।'* भाव यह कि मरती थीं, सो जिलानेके लिये (यथा—*'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥'*) अथवा इसलिये कि श्रवण और मन लगाकर सुने, अमृत वचन कहे। यथा—*'लागी सुनै श्रवन मन लाई॥'*

☞ मानसकल्पकी कथामें कवि प्रथम मुद्रिकाका गिराना कहते हैं। अंगारे माँगनेपर अशोकसे मुद्रिकाका गिराया जाना कितना सुन्दर हुआ। यह श्रीरघुनाथजीके हाथसे यहाँ कैसे आयी? इस सम्बन्धके विचारोंको शान्त करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके चरित कहना भी बड़ा ही उत्तम हुआ है, इससे श्रीजानकीजीके समीप हनुमान्जीका प्रकट होना भी कैसा सुगम हो गया। एकके बाद एक कड़ी कितनी स्वाभाविक है। वाल्मीकीय, हनुमन्नाटक इत्यादि ग्रन्थोंमें हनुमान्जीका प्रथम ही प्रकट होना और बहुत कुछ विश्वास हो जानेपर मुद्रिकाका दिया जाना वर्णित है।

नोट—२ '*मधुर बचन बोलेउ*……' इति। एक तो श्रीरामगुण और वह भी मीठी कोमल वाणीमें वर्णन किया, जिसमें वे क्षुब्ध न हों और उनके वचनोंपर विश्वास करें। यथा—'**श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन्गिरम्। श्रद्धास्यति यथा……॥……मधुरमवितथं जगाद वाक्यं……**।' (वाल्मी० ५। ३०। ४३-४४) मधुर प्रिय होता ही है। मधुरमें धीमेका भी भाव है जिसमें कोई और न सुन सके। प्र० स्वामीजीका मत है कि यहाँ राम-राम-रामकी ध्वनि ही '*मधुर बचन*' से समझना चाहिये, जब रामनामकी ध्वनिसे चित्ताकर्षित होगा तब कथा सुनानेसे लाभ होगा।

टिप्पणी—२ (क) रामचन्द्रगुणका भाव यह कि सीताजी रामविरहानलसे संतप्त हैं, तापको चन्द्रमा दूर करता है, यथा—'*सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई॥*' अतएव '*रामचन्द्र*' पद दिया। पूर्व रावणके चन्द्रहाससे परिताप हरण करनेकी विनती की थी। पर वह ताप न दूर कर सका। श्रीरामचन्द्रजीके गुण सुननेसे ताप दूर हुआ। श्रीरामजी चन्द्र हैं, उनके 'गुण' किरण हैं। 'गुण' अर्थात् करुणा, कृपालुता आदि; यथा—'*दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।*' (विनय० ८१)

(ख)—जैसे श्रीरामजीके गुणोंके श्रवणसे ताप दूर होनेके कारण उनके नाम (राम) के साथ यहाँ चन्द्र शब्द दिया गया वैसे ही गुणश्रवणसे शीतल हो जानेके सम्बन्धसे 'सीता' नाम दिया गया। 'सीता' से शीतलताके भावका उदाहरण, यथा—'*तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥*' (५। ३६)

नोट—३ '*सुनतहि सीता कर दुख भागा।*' इति। (क) '*भागा*' अर्थात् शीघ्र डरकर चला गया। इससे जनाया कि उसका नाश नहीं हुआ, श्रीहनुमान्जीके चले जानेपर फिर आ जायगा; यथा—'*तोहि देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहुँ सोइ दिन सो राती॥*' (५। ३७) (ख) '*सुनतहि*……' कुसुमविचित्रा है। (ब्र० चं०)

☞ यहाँ ग्रन्थकारका उपदेश है कि जैसे श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंके श्रवणसे श्रीसीताजीका दुःख भाग गया, वैसे ही जो भी मन लगाकर सुनता है उसका दुःख भाग जाता है। '*सुनतहि*' का भाव कि सुननेहीकी देर है, दुःख भागनेमें देर नहीं लगती। (रा० कु०) दुःख-सुख सब मनका धर्म है, यथा—'*मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥*' श्रीसीताजीने श्रीरामचन्द्रगुण-वर्णन सुननेमें ऐसा मन लगाया कि दुःखका कहीं पता न रहा। (वि० त्रि०)

लागी सुनै श्रवन मन लाई। आदिहुँ ते सब कथा सुनाई॥६॥

अर्थ—वे कान और मन लगाकर सुनने लगीं। श्रीहनुमान्जीने आदिहीसे (बालकाण्ड; जन्मसे) सब कथा सुनायी॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '*श्रवन मन लाई*' का भाव। जबतक कोई दुःख रहता है तबतक कथामें मन नहीं लगता और जो मन लगाकर न सुने, उससे कथा कहनी न चाहिये चाहे कोई भी क्यों न हो; यथा—'*यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥*' (७। १२८), अतएव प्रथम रामचन्द्रगुण सुनाकर दुःख दूर किया, जिससे मन जो विचारमें लगा था वह कथा श्रवण करने लगा। पुनः, जब वक्ताके कथनमें रस होता है तभी श्रोताका मन लगता है। श्रीहनुमान्जीकी वाणी अमृतसम है। अतएव श्रवण मन लगाकर सुनी। (ख) '*आदिहुँ ते*……' इति। अर्थात् बालकाण्डसे अरण्यकाण्डतक जितनी कथा श्रीजानकीजीकी जानी हुई थी वह सब कही और उसके आगे जैसे सीताहरण हुआ। जिस रीतिसे श्रीरामजी मायामृगको मारकर आश्रमपर आये और जानकीजीको न देखकर विरहसे व्याकुल हो विलाप करते चारों

ओर ढूँढ़ते फिरे, वह सब कहा। फिर जटायु और शबरीजीकी सद्‌गति [वाल्मीकीयके अनुसार सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध भी], दूतोंका चारों दिशाओंमें भेजा जाना और उनमेंसे एक दूतका सम्पातीके बतलानेपर समुद्रको लाँघकर लङ्कामें पहुँचकर घर-घर ढूँढ़ते हुए श्रीविभीषणजीसे पता लगनेपर अशोकवाटिकामें पहुँचकर सीताजीका दर्शन पाना और श्रीरामचन्द्रजीके बताये हुए चिह्नोंसे उनको पहचानना और मुद्रिकाका गिराना—यह सब कथा उन्होंने कही। परन्तु बीचमें सुग्रीवजीसे रामजीकी मित्रताकी कथा न कही, क्योंकि उसके कहनेसे श्रीजानकीजीको सन्देह होता। यह उनकी बुद्धिमानीका परिचय है। और श्रीजानकीजीने शङ्का की ही, यथा—*'नर बानरहि संग कहु कैसे।'* (५। १३) तब हनुमान्‌जीके बतानेपर सन्देह दूर हुआ। यथा—*'कही कथा संगति भइ जैसे।'* यदि कथा पूर्व कही होती तो यह प्रश्न और उत्तर न होते [वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी मित्रता और कामरूपी वानरदूतोंके भेजनेकी भी बात कही है। हो सकता है कि हनुमान्‌जीने 'सुग्रीव-मिताई' और बालि-वध करके सुग्रीवका राजा बनाया जाना और उनका दूतोंका भेजना कहा हो, केवल वानर-जाति न बतायी हो; यह पूछनेपर कहा हो। क्योंकि दूत कहाँसे मिले, यह भी बताना जरूरी था, नहीं तो उसके विषयमें भी सन्देह होता। परन्तु वाल्मीकीयमें भी *'नर बानरहि संग कहु कैसे'* वाला प्रश्न है, यथा—'**क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः॥**' (५। ३५। २) और यह भी कहा कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी हुलिया फिरसे कहो जिसके सुननेसे मेरे मनको शोक न हो। उत्तरमें सुग्रीवका पटभूषण पाना (जो सीताजीने फेंके थे) और किस तरहसे मित्रता हुई वह पूरी कथा कही। प्रथम बार संक्षेपमें कही थी। अतः यह भी हो सकता है कि परमविरहातुर होनेसे सुग्रीवका वानर होना चित्तसे उतर गया हो। जब हनुमान्‌जी समीप आये तब कपिरूप देखकर और बोली मनुष्योंकी सुनकर संदेह हुआ।]

टिप्पणी—२ *'आदिहुँ तें सब कथा सुनाई'* इति। श्रीहनुमान्‌जीको सब कथा सबसे पहले तो श्रीरामचन्द्रजीसे ही मालूम हो गयी थी, यथा—*'आपन चरित कहा हम गाई॥'* (४। २) तत्पश्चात् लक्ष्मणजीसे भी सब सुन चुके हैं, यथा—*'लछिमन रामचरित सब भाषा॥'* (४। ५) इसके अतिरिक्त पूर्व ही मुनियोंसे सुन चुके हैं, यथा—*रामजनम सुभ काज सब कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ॥'* (रामाज्ञाप्र० ४। २२) सूर्यसे सुनी है, क्योंकि उन्हींने इनको सुग्रीवकी रक्षाके लिये नियुक्त किया था। इसीसे उन्होंने आदिसे पूरी कथा कह सुनायी। [*'आदिहुँ तें'* से *'भइ संगति जैसे'* तक पायकुलक है (व्र० चं०)]

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही* सो प्रगट होत किन भाई॥७॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ॥८॥

अर्थ—(कथा कहकर जब हनुमान्‌जी चुप हो गये तब श्रीसीताजीने कहा—) जिसने कानोंको अमृतके समान लगनेवाली सुन्दर कथा कही, हे भाई वह प्रकट क्यों नहीं होता?॥ ७॥ तब हनुमान्‌जी उनके पास चले गये। हनुमान्‌जीको देखकर उनके मनमें विस्मय (आश्चर्यसहित भय) हुआ। वे फिरकर (मुँह फेरकर) बैठ गयीं॥ ८॥

नोट—१ (क) *'श्रवनामृत''''* इति। श्रीरामजीकी कथा अमृतसमान है, यथा—*'बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।''''सुनत बचन बिसरे सब दूषा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥'* (७। २) (ख) *'भाई'* सम्बोधन प्रेम और प्यारका है। कथा सुनानेसे वे अति प्रिय लगे। ऐसे ही श्रीदशरथजी और भरतजीने कथा सुनानेपर 'भाई' सम्बोधन किया है। यथा—*'भैया कहहु कुसल दोउ बारे॥'* (१। २९१) (दूतोंको 'भैया' कहा); *'तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥'* (७। २) (हनुमान्‌जीको 'भ्राता' कहा)। अमृत मृतकको जिलाता है। सीताजी आत्महत्या करने जा रही थीं, इस अवस्थामें कथा कहकर जिला लिया। अतः *'श्रवनामृत कथा'* और *'भाई'* कहा। भाई दुःखके साथी होते हैं, यथा—*'होहिं कुठाँय सुबंधु सुहाए॥'* (२। ३०६। ८)

* कही—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०। कहि—छ०, कोदवराम।

टिप्पणी—१ *'प्रगट होत किन'* इति। प्रकट बुलानेका भाव कि रामचरितके वक्तासे महारानीको भी पर्दा नहीं है। त्रैलोक्यकी महारानी भी कथा सुनकर उसे प्रकट होनेको कहती हैं। *'प्रगट होत किन भाई'* का भाव कि जिसने ऐसा भारी उपकार किया है उसको प्रकट होनेमें क्या भय है। तुम्हारे वचन सुनकर श्रवण तृप्त हुए, प्रकट होनेसे नेत्र भी तृप्त होवें, यथा—*'तोहि देखि सीतल भइ छाती।'*

टिप्पणी—२ (क) *'तब'* अर्थात् जब आज्ञा हुई। बिना आज्ञा निकट न जा सके, यथा—*'दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूछे निज बृत्तांत सुनावा॥'* (कि० २५। १), *'दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपतिदूत जानकी चीन्हा॥'* (६। १०६) *'चलि गयऊ'* अर्थात् दौड़कर या कूदकर नहीं, यह अपराध होता। यथा—*'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये॥'* (ख) *'फिरि बैठी'* का भाव यह कि मुद्रिका गिरानेपर उठकर लेना कहा था—*'हरषि उठि कर गहेउ'* खड़े-खड़े उसे देखती रहीं, मनमें अनेक विचार करती रहीं और मन लगाकर कथा सुनी एवं वक्ताको निकट बुलाया। जब हनुमान्‌जी निकट गये तब फिर गयीं और बैठ गयीं। (ग) *'मन बिसमय भयऊ'* क्योंकि कथा सुनी मनुष्यकी बोलीसे और प्रकट हुआ वानर, कदाचित् यह रावण है, छल कर रहा है, यही विस्मय हुआ।

नोट—२ वाल्मीकीय सर्ग ३० में हनुमान्‌जीके विचार सर्गभरमें दिये हैं। उसीमें यह भी विचार है कि 'मैं बहुत छोटा वानर हूँ; पर मैं मनुष्योंके समान संस्कृतमें वचन कहूँगा, ब्राह्मणोंके समान न बोलूँगा, नहीं तो ये मुझे रावण समझकर डर जायँगी। ये मेरा रूप देखकर और मेरे वचन सुनकर कहीं डरकर चीख उठीं तो राक्षस दौड़ पड़ेंगे, मुझसे युद्ध होने लगेगा, इससे रामकार्य नष्ट हो जायगा। मेरे बोलनेमें यह बुराई है। पर न बोलनेसे इनका प्राणत्याग करना भी निश्चित है।' अतः उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरामजीके गुणोंका कीर्तन करनेसे ये उद्विग्न न होंगी, फिर मैं रामजीका संदेश सुनाऊँगा, जिससे वे मुझपर विश्वास करें। यह विचारकर मधुर और सत्य वचन बोले। पुनः सर्ग ३४ में उल्लेख है कि उन्होंने इन्हें रावण ही समझा। यथा—'**यथा यथा समीपं स हनूमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते॥**' (९) और बोलीं कि यह अच्छी बात नहीं कि तू मुझे कपटरूप बनाकर दुःख देता है। फिर सोचती हैं कि स्वप्न तो नहीं है? श्रम या उन्माद तो मुझे नहीं? पर मैं तो प्रत्यक्ष देख-समझ रही हूँ। अनेक विचार करके रावण ही निश्चय कर फिर वानरसे कुछ न बोलीं। यथा—'**रक्षसां कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम्॥ एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा॥ न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा।**' (वाल्मी० ३४। २५-२६) रावण एक बार यतीरूपसे छल चुका ही है। अतः ऐसा विस्मय हो सकता ही है।

रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥ १०॥

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा) हे जानकी माता! मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, करुणानिधानकी शपथ करके सत्य कहता हूँ॥ ९॥ हे माता! यह अँगूठी मैं (ही) लाया हूँ। श्रीरामचन्द्रजीने यह तुम्हें निशानी दी है। (तात्पर्य कि इसे देखकर श्रीजानकीजीको विश्वास होगा, हमारा दास जानेंगी सो आप इसीसे निश्चय कर लें)॥ १०॥

वि० त्रि०—सीताजीको परम विरहाकुल देखकर, हनुमान्‌जीको भय हुआ कि यह तो विरहकी दशम दशाको प्राप्त हुआ चाहती हैं, अतः उनकी चित्तवृत्तिको दूसरी ओर फेरनेके लिये मुद्रिका गिरायी। चित्तवृत्ति फिरी। संदेह उठा कि यह सरकारकी अँगूठी यहाँ आयी कैसे? यह अदेय है, बिना जीते कोई इसे पा नहीं सकता और रामजी अजेय हैं। सीताजी हर्ष-विषादसे फिर व्याकुल हो उठीं। उनकी अवस्था इस समय बड़ी नाजुक हो रही थी, हनुमान्‌जी बहुत सँभालकर काम कर रहे हैं। 'कोई अपने पक्षका पुरुष वहाँ है' इसे जनानेके लिये रामगुण-वर्णन आरम्भ किया, सारी रामकथा सुनायी। इससे मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब कहने लगीं कि जिसने कथा सुनायी वह प्रकट क्यों नहीं होता? तब हनुमान्‌जी पास चले

गये। रावण समझकर भगवतीने मुँह फेर लिया—तब हनुमान्‌जी बोले—मैं रामदूत हूँ, करुणानिधानकी शपथ लेकर सत्य कहता हूँ, यह अँगूठी मैं लाया हूँ। सन्देह मत करो कि यह अँगूठी अदेय है, इसे रामजीने तुम्हें दिया है, मैं केवल लानेवाला हूँ। तुम्हारे विश्वासके लिये मेरे हाथ भेजा है।

टिप्पणी—१ *'सत्य सपथ""'* इति। भाव कि मैं रावण नहीं हूँ, इसके लिये मैं करुणानिधानकी शपथ करता हूँ। पुन: यह कि यदि मैं छल करता हूँ तो मुझपर श्रीरामजीकी करुणा न रहे। यथा—*'तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई।'* हमारे स्नेह और सुकृतकी अवधि श्रीरघुनाथजी हैं, यदि मैं झूठी शपथ करता होऊँ तो मेरे सब सुकृत और स्नेह नष्ट हो जायँ। अथवा भाव यह कि मैं उनका दूत होने योग्य नहीं हूँ, करुणानिधानने कृपा करके मुझे अपना दूत बनाया। यथा—*'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।'* शपथसे बातकी दृढ़ता होती है, यथा—*'तेहि पर राम सपथ करि आई।""""बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।'* शपथ करके अपना वचन मुद्रिकाका लाना पुष्ट किया, क्योंकि जानकीजीको निश्चय विश्वास है कि मुद्रिका रामजीकी है। इससे रामदूत निश्चित हुआ। अब केवल 'नर-वानर-संग' का संदेह रहा। वह पूछती हैं और हनुमान्‌जी उसे कहेंगे। जब सब सन्देह दूर हो गया तब *'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।'* *सहिदानी*=निशानी, चिह्न; यथा—*'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥'*

नोट—१ *'रामदूत'* इति। रामराज्य ही क्या प्राचीन भारतीय शासन-प्रणालीमात्रका बड़ा आवश्यक अङ्ग 'दूत' है। डॉक्टर बेनीप्रसादजीके State in Ancient India और Theory of Government in Ancient India के आधारपर कुछ लिखता हूँ। ऋग्वेदकालमें वह राजाका प्रतिनिधि (Agent General) ही था केवल जासूस नहीं। पीछे वैदिक कालमें ही उनका बड़ा समूह और दफ्तर बन गया। महाभारतकालमें तो डॉक्टर महोदयके शब्दोंमें मानो उनकी फौजकी-सी बहुतायत थी (a host)। वे सबकी निगरानी करते थे और शासनविधान, प्रजाकी राय तथा विधानके सम्बन्धमें बराबर रिपोर्ट करते थे। मौर्यकालमें और भी बहुतायत लिखी है; कारण कि वह साम्राज्य था। महाराज अशोकके समयमें जिनके 'धर्मचक्र' को अब स्वराज्यके झंडेमें स्थान मिला है, इनको Supervisor (देख-रेख करनेवाला), Reporter (रिपोर्ट करनेवाला) और जासूस तीनों कहा है। मानव धर्मशास्त्र जो श्रीरामराज्यका ही राज्यधर्म वर्णन करता है, उसके सम्बन्धमें डॉक्टर महोदय लिखते हैं—'सब कर्मचारियोंके ऊपर, चाहे वे न्यायविभाग (judicial) के हों चाहे कर्मविभागके (Executive) या आय-व्यय (Fiseal) विभागके, उन सबोंपर और जनतापर भी राजाको दूतोंद्वारा देख-रेख करनी चाहिये। उन्हें राजाके नेत्र कहा है। उन्हें सबके व्यवहारकी खोज करनी है।' रामायणमें 'चर' शब्द भी आया है। दूतका राजदूत (Ambassador) सफीर, एलची रूप तो सभी जानते हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी कालमें भी 'अखबारनवीस' कुछ वैसे ही थे। डॉक्टर महोदयकी यह राय भी ठीक ही है कि वे मानो पत्रकार (Journalist) भी थे। जनसत्तात्मक वैध्य रामराज्य-प्रणालीवाले शासनमें उनका बड़ा हाथ है। श्रीजयदेवशर्माजी विद्यालंकारने अपने सामवेदसंहिताके भाष्यमें तीसरे मन्त्रकी व्याख्याकी पाद-टिप्पणीमें जहाँ और वाक्य उपनिषद् इत्यादिसे उद्धृत किये हैं वहाँ एक यह भी है—**'बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा।'** (श्रीलमगोड़ाजी)

नोट—२ *'मातु'* सम्बोधनका भाव कि मैं माता ही मानता हूँ, माताको पुत्रसे पर्दा कैसा? श्रीरूपकलाजी *'करुनानिधान'* का भाव यह बताते थे कि—स्त्रियोंका स्वामीको सम्बोधन करनेके लिये कुछ खास नाम रहता है। महारानीजी सरकारको 'करुणानिधान' विशेषणसे सम्बोधन किया करती थीं। यह गुप्त बात थी, प्रभुने हनुमान्‌जीसे बता दी थी। अत: उन्होंने इस नामका यहाँ प्रयोग किया। मुद्रिका देनेपर भी विश्वास न हुआ पर इस नामके सुननेपर विश्वास हो गया। गोस्वामीजीने सीताजीके साथ इस नामका प्रयोग इसी विचारसे जहाँ-तहाँ किया है। यथा—*'अतिसय प्रिय करुनानिधान की। सरल प्रकृति आप जानियत करुनानिधान की॥'* (विनय०) (४२)

प० प० प्र०—रामदूत, मातु और करुणानिधान ये तीन संशयनिरासके लिये पर्याप्त थे। दुर्जन ऐसी

स्त्रीके लिये 'मातु' शब्दका प्रयोग न करेगा। दुर्जनोंके कोषमें करुणा शब्द है ही नहीं। दूत भेजा यह आपपर कृपा की और मुझे यह सेवा दी, यह मुझपर कृपा की यह भी सूचित किया।

नोट—३ *'मैं आनी'* का भाव कि यह अशोकने नहीं दी है। अशोकमें अँगूठी नहीं फलती। मैं रामदूत हूँ। श्रीरामजीने आपको देनेके लिये मुझे दी थी सो मैं ही उसे लाया हूँ। यह विश्वास दिलानेके लिये दी थी। यथा—'**रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना।**' (वाल्मी० ५। ३६। २-३)

नर बानरहि संग कहु कैसें। कही कथा भइ संगति जैसें॥११॥

दो०—कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥१३॥

अर्थ—(श्रीसीताजीने पूछा—) मनुष्य और बंदरका साथ कैसे हुआ? यह कहो। तब श्रीहनुमान्‌जीने सब कथा कही कि जिस प्रकार संगति हुई भी॥११॥ कपिके प्रेमयुक्त वचन प्रेमपूर्वक सुनकर सीताजीके मनमें विश्वास उत्पन्न हो गया, उन्होंने जान लिया कि यह मन, कर्म और वचनसे कृपासागर श्रीरामजीका दास है॥१३॥

टिप्पणी—१ (क) *'बचन सप्रेम'*। जब कथा कहने लगे तब प्रेमसे दोनों भाइयोंके स्वरूप वर्णन किये, सीताजीके आभूषण गिनाये जो उन्होंने वानरोंको देखकर पर्वतपर गिराये थे और जिस वस्त्रमें वे बँधे थे, जैसा वह वस्त्र था वह बताया, कथा कहते समय बारंबार प्रेम उमड़ आता था। (ख) 'विश्वास उत्पन्न हुआ' इस कथनका भाव यह है कि उन्हें देखकर मनमें विस्मय हो गया था—*'फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ'*। अब विस्मय दूर हुआ। समझती थीं कि रावण न हो, सो अब उन्हें मन-कर्म-वचनसे दास जाना। (ग) प्रेम देखकर मनसे दास जाना। *'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ''' ॥'* इन वचनोंसे दास निश्चय किया। और, *'यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम''' ॥'* यह काम करनेसे कर्मसे दास जाना। प्रतीति होनेसे प्रीति बढ़ी, यथा—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* (घ) *'कृपासिंधु कर दास'* अर्थात् मैं उनका दास होनेकी योग्यता नहीं रखता, पर उन्होंने मुझपर कृपा करके अपना दास बनाकर भेजा, यथा—*'अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥'* (५। ७)

* नर-वानर *

इसपर श्रीगौड़जीका लेख 'सुरसा' के मुख बढ़ानेके प्रसंगमें आ चुका है। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—श्रीरामजीके प्रधान उपासक श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि—'सुन्दरता, वाक्‌चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमेंसे कोई भी गुण आपकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकता; यह बात दिखानेके लिये ही आपने इन सब गुणोंसे रहित हम वानरोंसे मित्रता की है।' विचार कीजिये कि इस अवतरणमें 'जाति' नहीं किंतु 'योनि' की भिन्नतापर जोर दिया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके मनुष्य होने और केवल जंगलमें रहनेकी कल्पना कुछ बहुत ठीक नहीं है। यदि ऐसा न होता तो रावण 'नर, वानर' दो छोड़कर वरदान न माँगता, केवल 'नर' काफी होता। यह भी ठीक है कि वे केवल कपि न थे, यथा—*'कस रे सठ हनुमान कपि?'* सब ही महाकाव्य-कलाकारोंने माना है कि दैवी तथा आसुरी दोनों श्रेणियाँ मनुष्यसे ऊपरकी हैं और दोनोंको अपनी इच्छासे भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेकी शक्ति होती है। अँग्रेजी पढ़े सज्जन मिल्टनरचित पैरेडाइज लास्ट (Paradise Lost) देख सकते हैं। तुलसीदासजीने तो स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्माजीके आदेशानुसार देवताओंने ही वानर-रूप धारण किये। यहाँ कपिरूप है तो श्रीरामराज्याभिषेक-प्रसंगमें श्रीअयोध्यामें सुन्दर मनुष्य-रूप। विश्वसाहित्यसे मेलके लिये देखिये Canon Doyle का उपन्यास The Lost World जो भौतिक विज्ञानके आधारपर कल्पना करके वैसे लोगोंका वर्णन करता है, जो बंदरों और मनुष्योंके बीचकी खोयी हुई शृङ्खला हैं। हम विस्तारभयसे केवल संकेत करते हैं। डॉक्टर ब्रूमने अगस्त १९४७ ई० में कुछ Ape-man (वानर) की हड्डीके ढाँचेकी खोज की है; उससे भी यही पता लगता है कि वह मनुष्यसे पृथक्, पर मिलते हुए थे।

मा० त० सु०—यहाँ अनुमान, शब्द, आप्तवाक्य और प्रत्यक्ष—इन चारों प्रमाणोंद्वारा जाना कि यह रामजीका दास है। *'जीति को सकै अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई॥'* अतः इसके लानेवालेका अवश्य रामजीसे सम्बन्ध है। यह अनुमान है (१) *'आदिहुँ ते सब कथा सुनाई',* यह शब्द और आप्तवाक्य है (२-३) और *'मुदरी पहिचानी',* यह प्रत्यक्ष प्रमाण है (४)।

नोट—१ पं० रामकुमारजीने पिछली चौपाईमें कहा है कि 'श्रीरामचरितके वक्तासे परदा नहीं रहता।' पर प्रकट होनेपर उन्होंने मुँह फेर लिया यह क्यों? कारण यह कि कथा सुनकर समझी थीं कि वक्ता कोई सुयोग्य श्रीरघुवंशभूषण-सम्बन्धी तत्कृपापात्र अधिकारी श्रेयस्कर दर्शनीय होगा। प्रकट होनेपर भगवत्सम्बन्धीय संस्काररहित देखा अतः फिर बैठीं।

नोट—२—मिलानके श्लोक ये हैं—'**क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः॥ एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता। उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छति॥**' (वाल्मी० ५। ३५। २, ८५)

नोट—३ यह वानर-दोहा वैश्या है।—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहा १२ में सीताजीके कर्म और वचनका व्यवहार बहुत है। यथा—*'तजौं देह करु बेगि उपाई', 'आनि काठ रचु चिता बनाई'*—यह कर्म है। *'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला'* से लेकर *'नूतन किसलय अनल समाना'* तक वचन है। और इस तेरहवें दोहेमें मनका व्यवहार अधिक है, यथा—*'सीता मन बिचार कर नाना', 'लागी सुनै श्रवन मन लाई', फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ', 'उपजा मन बिस्वास।'*

हरिजन जानि प्रीति अति* बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥ १॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भएहु† तात मो कहुँ जलजाना॥ २॥

अर्थ—भगवान्‌का जन (सेवक, दास) जानकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हुआ और रोम खड़े हो गये॥ १॥ (वे हनुमान्‌जीसे बोलीं) हे तात! हे हनुमान्! विरहसमुद्रमें डूबती हुई मुझको तुम जहाज हुए॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'हरिजन जानि'* का भाव। जैसे हनुमान्‌जीने विभीषणजीको सज्जन पहिचाना, यथा—*'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥'* और, विभीषणजीने उनको हरिदास जाना, यथा—*'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई'।* वैसे ही श्रीजानकीजीने इनको हरिजन जाना। (ख) हरिजन जाना, इसीसे प्रीति अत्यन्त बढ़ी। हरिजनके दर्शनसे प्रीति अपने-आप हृदयमें बढ़ती है। विभीषणजीने भी कहा है—*'की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥'* (५। ६) ये हरिजन हैं, सन्त हैं (जैसा कि विभीषणजीने कहा है—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'*) और संतोंमें अत्यन्त प्रेम करना ही चाहिये, यथा—*'संत चरन पंकज अति प्रेमा।'* (३। १६) (ग) [*'प्रीति अति बाढ़ी'* कहकर जनाया कि प्रीति तो पहले ही उत्पन्न हो गयी थी, जब रामचन्द्रजीके गुण वर्णन किये थे, तभी तो प्रकट होनेको कहा था, और 'भाई' सम्बोधन किया था, यथा—*'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥'* जब हनुमान्‌जी प्रकट हुए और अपनेको रामदूत बताया, सीताजीको माता सम्बोधन किया और कहा कि मैं यह अँगूठी लाया हूँ तब वह प्रीति बढ़ी, पर संदिग्धचित्त होनेसे वह कुछ संकुचित थी। अब निश्चय होनेपर वह प्रीति अत्यन्त बढ़ी कि रोके न रुकी, अश्रु और पुलकद्वारा प्रकट हो गयी। यथा—'**मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात्॥ यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते।** (वाल्मी० ५। ३४। १७-१८) अर्थात् तेरे दर्शनसे मेरे मनमें तेरे प्रति स्वतः प्रेम उत्पन्न हो रहा है, यदि तू रामदूत है तो

---

* अति गाढ़ी—भा० दा०। उर बाढ़ी—ब्र० चं०।

† भएहु—का०, ना० प्र०, ब्र० चं०। भयहु, भयउ पाठान्तर। 'हरिजन' नयमालिनी, 'सजल' चण्डी और (२), (३) पायकुलक है—(प्र० चं०)।

तेरा मङ्गल हो। *'अति बाढ़ी'*, यथा—'**अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण च जानकी। नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्माभ्यां मुमोचानन्दजं जलम्॥**' (वाल्मी० ५। ३५। ८६) अर्थात् दूत जानकर बहुत प्रसन्न हुईं, प्रसन्नताके कारण उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु निकलने लगे। यहाँ हर्ष संचारी भाव है।]

टिप्पणी—२ (क) *'प्रीति अति बाढ़ी'* यह अन्तःकरणका प्रेम हुआ, *'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी'* यह उस प्रेमका सबूत बाहर देख पड़ा। अर्थात् पहले चरणमें जो *'प्रीति अति बाढ़ी'* कहा उसकी दशा दूसरे चरणमें दिखायी। तनमें पुलकावली होती है, यथा—*'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलकगात जल नयन'*, *'तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात'।* और, रोमावली खड़ी होती है, यथा—*'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी॥'* (१। १०४। २) *'स्यामल गात रोम भये ठाढ़े।'* यहाँ अङ्गके धर्म कहकर अङ्गका ग्रहण कराया। (ख) मन, तन और वचन तीनोंकी दशा यहाँ कही। *'प्रीति बाढ़ी'* यह मनकी दशा है, *'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी'* यह तनकी और *'बूड़त बिरह''''जलजाना'* यह वचनकी दशा है।

प० प० प्र०—विभीषणजीके हृदयमें विप्ररूप हनुमान्‌जीको देखकर अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई, इससे उन्होंने अनुमान किया कि यह *'हरिदासन्ह महँ कोई'* है, पर यहाँ क्रम उलटा है। इन्होंने जब जाना कि यह हरिजन है तब *'प्रीति अति बाढ़ी'।* कारण कि एक तो रावणके वचनोंके कारण श्रीसीताजीको अत्यन्त दुःख है, दूसरे वे सतीशिरोमणि हैं और उनके सामने एक वानर आकर खड़ा होता है, ऐसी दशामें प्रथम ही अति प्रीति होना असम्भव है। इससे उपदेश मिलता है कि जब चित्त सभीत, सशङ्क या व्यग्र अथवा पूर्वाग्रहदूषित होता है तब हरिभक्तका दर्शन होनेपर भी उसमें अत्यन्त प्रीति उत्पन्न नहीं होती।

नोट—१ *'बूड़त बिरह जलधि''''*' इति। आत्महत्या करना चाहती थीं; यथा—*'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई''''*' यही विरहसागरमें डूबना होता है। २—*'हनुमाना'* सम्बोधनसे जान पड़ता है कि जब हनुमान्‌जीने *'सब कथा'* सुनायी तब उसीमें यह भी कह दिया था कि हनुमान् नामक दूत समुद्र पार करके अशोकवाटिकामें पहुँचा और परम विरहाकुल देख मुद्रिका उसीने गिरायी। गीतावलीमें मुद्रिकाने भी इनका नाम और परिचय कराया है; यथा—*'बोलि लियो हनुमान करि सनमान, जानि समाउ॥''''कियो सीय-प्रबोध मुँदरी, दियो कपिहि लखाउ॥'* (गी०। ५। ४) वाल्मीकीयमें भी *'नर बानरहिं संग कहु कैसे?'* का उत्तर देते समय हनुमान्‌जीने कहा है—'**रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत। हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम्॥**' (५। ३५। ५३) अर्थात् इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीवजीका मेल हुआ। मुझे हनुमान् नामक वानर तथा उन दोनोंका भेजा हुआ दूत समझो। पुनः, यथा—'**हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा॥**' (५। ३५। ८३) अतः यहाँ भी *'नर बानरहि संग कहु कैसे।'* के उत्तरमें जब हनुमान्‌जीने *'कही कथा भइ संगति जैसे'* तभी उसके साथ अपना नाम कहा हो, यह भी हो सकता है। इसीसे वे नाम जानती थीं।

टिप्पणी—३ *'भएहु तात मो कहँ जलजाना।'* इति *'तात'* प्रिय सम्बोधन है, यथा—*'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥'* (२। ५३), *'तात तुम्हारि मातु बैदेही।''''लेहु तात जग जीवन लाहू॥'* (२। ७४) इत्यादि। *'भएहु जलजाना'* जहाज हो गये अर्थात् मुझ डूबती हुईको सहारा हो गये। मुद्रिका देकर, कथा सुनाकर और प्रकट होकर, विश्वास दिलाकर मरनेसे बचा लिया। यथा—*'सुनतहि सीता कर दुख भागा'*, *'तोहि देखि सीतल भइ छाती।'*

टिप्पणी—४ जलयान हुए कहकर जनाया कि यद्यपि हनुमान्‌जी आधार मिल गये, डूबतेसे बचा लिया। पर अभी जानकीजी उसके पार नहीं हुईं, पार तब होंगी जब श्रीरामजी मिलेंगे; यथा—*'बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥'* (७। ५) वहाँ भरतप्रसंगमें श्रीरामजीको जलयान नहीं कहते, क्योंकि रामजी मिल गये; यही पार होना है।

नोट—२ जैसे श्रीहनुमान्‌जीने यहाँ श्रीसीताजीको विरहसागरमें डूबते बचाया, ऐसे ही इन्होंने अंगदादिको, श्रीरामचन्द्रजीको और श्रीभरतादि सबोंको डूबते हुए बचाया। यथा—*'गगन निहारि, किलकारी भारी सुनि, हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाजु मानों आजु जाए जानि सब अंकमाल*

देत हैं।'''*अंगदु मयंदु नलु नीलु बलसील महा बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं॥*' (क० ५। २९), (श्रीसीताजीका समाचार लाकर अंगदादिके प्राण बचाये, नहीं तो सुग्रीव सबका वध करते, यथा—'*उहाँ गये मारिहि कपिराई*') '*सिय-बियोग-सागर नागर-मनु बूड़न लग्यो सहित चित-चैन। लही नाव पवनज-प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन-मैन॥* (गी० ५। २१)—(यह सीताजीका समाचार देकर श्रीरामजीको डूबते बचाया); और, '*रामबिरहसागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥*' (७। २)—(श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीरामजीका आगमन कहकर श्रीभरतजीको बचाया) [श्रीभरतप्रसंगमें '*पोत*' कहा है। सूक्ष्म अन्तरपर कला निछावर है; कारण कि तब और बहुधा अब भी 'जलयान' किनारेसे दूर खड़े होते थे और वहाँसे किनारेतक आने-जानेके लिये 'पोत' (छोटी नाव) ही काम देती हैं। जब भरतजीको संदेश दिया है तब मानो जलयानरूपी रामके पाससे पहले नावरूपमें ही हनुमान्‌जी आये और उन्हींके सहारेसे भरतजी स्वागतकी तैयारी करके श्रीरामजीकी अगवानीको जायँगे। (लमगोड़ाजी)]

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख-भवन खरारी॥ ३॥

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ। अब छोटे भाई लक्ष्मणसहित सुखधाम खरके शत्रु श्रीराघवजीका कुशल-मङ्गल कहो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'अबका भाव कि मेरा कुशल तो तुमने, मुझे विरहसमुद्रमें डूबतेसे बचाकर' किया; अब दोनों भाइयोंका कुशल कहो। बिना कुशल-समाचार पाये व्याकुल हैं, कुशल पूछनेमें बलिहारी जाती हैं; क्योंकि जब मारीचने रामजीके स्वरमें स्वर मिलाकर आर्त्तस्वरसे लक्ष्मणजीको पुकारा था तब उस आर्त्तस्वरको सुन व्याकुल होकर सीताजीने लक्ष्मणजीको भेजा था। उसी बीच समय पाकर रावणने इनका हरण किया। तबसे आजतक कुछ भी कुशल-समाचार किसीका न मिला। अपने प्राणोंके बचनेसे रघुनाथजीका कुशल-समाचार पाना अधिक है। इसीसे वे अत्यन्त उत्कंठित हैं और कुशल पूछ रही हैं। अपने प्राण बचानेमें बलिहारी न गयीं, स्वामीके कुशल कहने-सुनानेके लिये बलिहारी जाती हैं। पुनः (ख) '*जाउँ बलिहारी*' से अपना उपकार मानना सूचित किया। उपकार न मानतीं तो दोष लगता। उपकार मानकर कृतज्ञ होना सूचित किया (ग) ☞ऐसा ही उपकार माननेपर रघुनाथजी और भरतजीने गलेसे भेंटकर कृतज्ञता जनायी है; यथा—'*सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए॥*' (३०। ७), '*दीनबन्धु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥*' (७। २); परन्तु यहाँ श्रीजानकीजी न तो भेंट कर मिलीं ही और न उनको हृदयसे ही लगाया। इसका कारण यह है कि स्त्रीका पर पुरुषको भेंटना या हृदयसे लगाना अनुचित है। स्त्री-स्त्रीसे गले लगकर मिलती है और पुरुष-पुरुषसे। (प्र०)

नोट—१ 'बलि जाना', 'बलिहारी जाना' मुहावरे हैं जो कुर्बान होने, निछावर होनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। यह मुहावरा प्रायः किसीपर प्रसन्न होनेपर, किसीसे कुछ मनभावता कार्य होनेपर, आपत्ति टलनेपर या अनुकूल काम करानेके लिये और वात्सल्यभावसे बोला जाता है, जिसका भाव यह है कि तुम्हारी बलायें (आपत्तियाँ) अपने ऊपर लेती हूँ, तुम्हारा कल्याण हो इत्यादि। यथा—'*तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।*'''*भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया॥*' (२। ५३), '*मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारीं॥*' (१। ३५७), '*तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका॥*' (२। ५५), '*पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजसु न होई॥*' (२। ४३), वैसे ही यहाँ भी हनुमान्‌जीपर अपनी वात्सल्यभावकी प्रसन्नता वे दिखा रही हैं।

नोट—२ लक्ष्मणजीका कुशल पूछनेका कारण यह है कि निर्दोष लक्ष्मणका तिरस्कार करनेका फल ही राम-विरह है यह सीताजी जानती हैं। यथा—'*हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउ रोषा।*' (३। २९। ३), '*जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥*' (६। ९८। ८); अतः वे जानना चाहती हैं कि वे मुझपर रुष्ट तो नहीं हैं। जबतक वे क्षमा न करेंगे मुझे यह दुःख भोगना ही पड़ेगा। गीतावलीमें मुद्रिकासे पूछती हैं—'*बोलि, बलि, मूँदरी! सानुज कुसल कोसलपालु।*''''''*कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु। रोष छमि सुधि करत कबहू ललित लछिमन लालु?*'॥ परस्पर पति-

देवरहि का होति चरचा चालु॥' (५। ३) इससे स्पष्ट है कि बस इसी कारण उनको भी पूछती हैं।

नोट—३ यहाँ पहले लक्ष्मणजीका नाम दिया तब रामजीका, इसके अनेक भाव कहे जाते हैं—(क) सुमित्राजीने कहा है कि *'तात तुम्हारि मातु बैदेही'।* माताका पुत्रपर अधिक स्नेह होता है। पुन:, (ख) इनको कटु वचन कहे थे, उसकी ग्लानि है। अत: उनका नाम प्रथम लिया। (ग) वे रामजीके वनवासमें एकमात्र रक्षक और संगी हैं, ये सकुशल हैं तो स्वामी भी सकुशल होंगे। (घ)—रावणका पराजय बिना मेघनाद-वधके न होगा, मेघनादवध इनके ही हाथों होना है इत्यादि। (ङ) छन्द-रचनामें सुगमता देखकर शब्द आगे-पीछे रखे जाते हैं। पुन:, *'अनुज सहित'* कहकर जनाया कि हमारे कारण रामजी उनपर कुपित तो नहीं हैं? (प्र०)

पंडित रामचन्द्रशुक्लजी—हनुमान्‌जीको सामने पाकर सीताजी उसी मर्यादाके साथ अपने वियोगजनित दु:खकी व्यञ्जना करती हैं, जिस मर्यादाके साथ माता पुत्रके सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुजसहित' रामका (अकेले रामका नहीं) कुशल पूछती हैं, फिर कहती हैं—*'कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥'''मृदुगाता।'* प्रियके कुशल-मङ्गलके हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओंके वियोगका प्रधान लक्षण है। प्रिय सुखमें है या दु:खमें है, यह संशय विरहमें दया या करुण-भावका हलका-सा मेल कर देता है। भारतकी कुलवधूका विरह आवारा आशिकों-माशूकोंका विरह नहीं है, जिसमें विरह अपना ही जलना और मरना देखता है, प्रिय मरता है या जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

नोट—४ *'कुसल''''सुखभवन'* इति। सुख-भवनकी कुशल पूछनेमें भाव यह है कि यद्यपि वे सुखके धाम सदा आनन्दस्वरूप हैं, सुखसे रहने योग्य हैं पर कहीं मेरे वियोगविरह-जन्य शोकसे संतप्त हो घबड़ा तो नहीं गये? उनका मुखकमल शोकसे मुर्झा तो नहीं गया? वे दु:ख तो नहीं पाते? पुन: 'कुशल' प्रश्नका भाव कि यदि वे कुशलसे हैं तो वे इस लङ्कापुरीको भस्म क्यों नहीं कर देते, रावणको दण्ड क्यों नहीं देते? यथा—'**कुशली यदि काकुत्स्थ: किं न सागरमेखलाम्। महीं दहति कोपेन**''''॥' (वाल्मी० ५। ३६। १३) कुशल कहनेसे बलिहारी जाऊँगी, तेरी बलैया लूँगी—इस कथनमें भाव यह है कि कुशल सुननेसे मुझे विश्वास हो जायगा कि वे अवश्य मेरा उद्धार करेंगे। *'अनुजसहित'* का भाव कि यदि वे कुशलसे हैं तो वे क्यों नहीं अपने शस्त्रास्त्रोंसे रावणका वध करके मेरा उद्धार करते। वाल्मीकीय (५। ३६)। के श्रीसीताजीके वचनोंके भाव इतने ही शब्दोंमें जना दिये गये।

टिप्पणी—२ (क) *'सुख भवन खरारी'* का भाव कि दासोंके लिये सुखके स्थान हैं और खरके अरि हैं। ये विशेषण देकर अपनी अभिलाषा जनायी कि दुष्टोंको मारकर मुझको भी सुख देंगे। पुन: *'खरारी'* का भाव कि खरने इतना ही कहा था कि *'देहु तुरत निज नारि दुराई'* उसके इतने ही अपराधपर आपने अकेले ही सेनासहित उसका वध किया और अब तो रावण मुझे हर लाया तब भी आपने अबतक खबर न ली।—(प्र०)

कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥४॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक*॥५॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमलचित्त और कृपालु हैं, रघुकुलके राजा हैं, उन्होंने किस कारण निष्ठुरता धारण कर ली?॥४॥ सेवकको सुख देनेवाला उनका सहज स्वभाव है वे रघुनायक क्या कभी मेरी भी याद करते हैं?॥५॥

टिप्पणी—१ *'कोमल चित कृपालु'*—[कोमलचित्तसे, अन्त:करणसे करुणामय और 'कृपाल' से दु:ख हरनेमें समर्थ जनाया। यथा—*'उमा राम मृदुचित करुनाकर।'''अस कृपाल को कहहु भवानी॥'* (६। ४४) दूसरेका दु:ख देख नहीं सकते और समर्थ भी हैं तब—] *'केहि हेतु धरी निठुराई'* इति। अर्थात् निज स्वभावसे जब कोमलचित्त और कृपालु हैं तो निष्ठुरता न होनी चाहिये। यदि कहें कि वंशस्वभावसे निष्ठुर

* ब्र० चं०—'कोमल''''' पायकुलक, 'कपि' तामरस, 'सहज''''' ११९४ वाँ भेद, 'कबहुँक''''' १२२० वाँ भेद।

हैं तो कोई भी रघुवंशी निष्ठुर नहीं सुने जाते। सभी रघुवंशी कोमलहृदय हैं और ये तो उस वंशमें शिरोमणि हैं, इनमें तो स्वप्नमें भी निष्ठुरता होनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अतः तुम हेतु बताओ।

टिप्पणी—२ (क) *'सहज बानि'''''* इति। भाव कि कृपा तो सभीपर करते हैं, यथा—*'सब पर मोरि बराबरि दाया'* पर सेवकको सुख देनेकी सहज टेव है। अथवा, कुछ सेवककी सेवा देखकर नहीं सुख देते वरन् स्वाभाविक ही सुख देते हैं, यथा—*'श्रीरघुबीरकी यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।'''''राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि''''' ॥'* (विनय० २१५) जब 'सेवक-सुखदायक' सहज बान है तो उस बानके बस कभी मेरा स्मरण करते हैं? क्योंकि जो बान पड़ जाती है वह कभी छूटती नहीं। (ख) *'सेवक सुखदायक'* कहकर *'सुरति'* करनेका प्रश्न करनेका भाव कि मैं सेवकिनी हूँ, मुझे अपने सेवककी तरह कभी स्मरण करते हैं; यथा—*'कहु कपि कबहुँ कृपालु गुसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥'* (७। २। १६) पुनः,*'कबहुँक सुरति करत'* ऐसा प्रश्न करना भक्तकी दीनता प्रकट करता है। भक्त अपने कर्म या पुरुषार्थका बल-भरोसा नहीं रखते। इसी तरह आपने भी ऐसा ही प्रश्न किया। यथा—*'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥'* (५। ७। २) यह वचन अत्यन्त विरहसूचक हैं।

मा० त० सु०—*'कोमल चित'* से अन्तःकरणका और *'कृपालु'* से बाहरका स्वभाव जनाया। *'केहि हेतु धरी'* अर्थात् यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे मालूम नहीं, तुम जानते होगे, अतः बताओ। फिर कहती हैं कि अपराध भी हो तो भी वे तो सेवक-सुखदायक हैं, यथा—*'रहति न प्रभु चित चूक किये की'* अतः कहो, कभी स्मरण करते हैं?

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥ ६॥
बचन न आव नयन भरि* बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी†॥ ७॥

अर्थ—हे तात! क्या कभी श्रीरामजीके श्यामल कोमल शरीरको देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे?॥ ६॥ (वे अत्यन्त शोकातुर हो गयीं, अतः मुखसे) वचन नहीं निकलता, नेत्रोंमें जल भर आया। (उन्होंने अत्यन्त दुःखसे कहा) हा नाथ? मैं बिलकुल ही भुला दी गयी!॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'कबहुँ नयन मम सीतल ताता।'''''* इति। (क) रघुनाथजीकी बान याद कर-करके और स्वरूपकी 'स्तुति' कर-करके श्रीसीताजी विरहमें विलाप करने लगीं, यथा—*'बहु बिधि करत बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की'।* [*'सीतल होइहहिं'* से जनाया कि ये श्रीरामविरहसंतापसे तप्त हैं; श्यामघनके दर्शनसे ही शीतल होंगे, अन्य किसी प्रकार नहीं। *'ताता'* शब्द बड़ा ही सुन्दर है, शिलष्ट पद है। दो अर्थ देता है—'हे तात! और 'तप्त' पुनः*'नयन मम सीतल'* का भाव कि तन और मन तो तुम्हारे वचनामृतसे शीतल हो गये; यथा—*'लागी सुनै स्त्रवन मन लाई।'''''* *'भये सीतल स्त्रवन-तन-मन सुने बचन-पियूष। दास तुलसी रही नयननि दरसहीकी भूख॥'* (गी० सु० ६) अभी नेत्र शीतल नहीं हुए]। यहाँ 'श्याममृदुगाता' के दर्शनकी अभिलाषा प्यास है, यथा—*'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥'* (ख) *'स्याम मृदु गाता'* से जनाया कि श्रीरामजीका शरीर मेघ है, दर्शन जल है, लोचन चातक है। (ग) प्रथम *'सुरति'* कहकर तब दर्शनकी अभिलाषा कहनेका भाव कि दर्शन श्रीरामजीके 'सुरति' के अधीन हैं, जब वे सुरति करें, निशाचरका वध करें, तब दर्शन हो। यथा—*'कबहूँ, कपि! राघव आवहिंगे? मेरे नयनचकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥ मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे॥ बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे।''''' रावनवध रघुनाथ-बिमल-जस नारदादि मुनिजन गावहिंगे॥ यह*

---

* भरे—१७०४, १७२१, १७६२, भा०दा०।

† ब्र० चं०—'कबहुँ''''' चण्डी, 'होइहहिं''''' ' से १४ (९) तक पायकुलक है।

अभिलाष रैन-दिन मेरे,…… ॥' (गी० सु० १०) (घ) 'स्याम मृदु गाता' का भाव कि स्त्रियोंकी अभिलाषा शृङ्गारकी होती है और शृङ्गारका वर्ण श्याम है, यथा—'**श्यामो भवति शृङ्गारः।**' यथा—*'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत शृङ्गार धरि मूरति परम अनूप॥'* (१। २४१), *'सीता चितव स्याम मृदुगाता। परम प्रेम लोचन न अघाता'*—(आ० २१), *'अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याम मृदुगाता'*—(लं० १०७) तथा यहाँ।

टिप्पणी—२ (क) *'बचन न आव……बिसारी'* से जनाया कि परम विरहाकुल हो गयीं, मरणप्राय अवस्थाको प्राप्त हो गयीं। जब 'श्याममृदुगात' स्मरण किया तब वचन बन्द हो गया, कुछ कह न सकीं, यथा—*'राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥'* (१। २९०) तात्पर्य कि मुखसे वचन निकला भी तो अत्यन्त क्लेशसूचक और इतना ही। 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःखका सूचक है। '**अहह इत्युद्भुते खेदे।**' अर्थात् बड़ा आश्चर्य है, खेद है। (ख)—*'हौं निपट बिसारी'* का भाव कि नाथके मुझको भुला देनेसे मैं अनाथ हो गयी;—मेरी वे कभी भी 'सुरति' नहीं करते। (ग) प्रथम पूछा कि क्या कभी करते हैं, यथा—*'कबहुँक सुरति करत……।'* और अब कहती हैं कि कभी नहीं करते, निपट भुला दिया। ये वचन अत्यन्त क्लेशसूचक हैं।

'कहि बल बिरह'-प्रकरण

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥ ९॥

अर्थ—श्रीसीताजीको विरहसे परम व्याकुल देखकर कपि श्रीहनुमान्‌जी मृदु और विनययुक्त वचन बोले॥ ८॥ हे माता! प्रभु छोटे भाईसहित कुशलसे हैं, परन्तु अत्यन्त कृपाके स्थान प्रभु आपके दुःखसे दुःखी हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'परम बिरहाकुल'* अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हैं वा होनेवाली हैं, (विरहकी दस दशाओंका उल्लेख दोहा ३१ में किया गया है), ऐसी दशामें कोई कठोर और अविनीत वचन समझाने या दशासे बचानेके लिये बोले तो अवश्य तुरन्त मृत्यु हो जाय। अतएव मृदु विनम्र वचन बोले। (ख) *'देखि परम बिरहाकुल सीता'* चौपाईका यह चरण पूर्व भी एक बार इसी प्रसंगमें आ चुका है, यथा—*'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता॥'* (५। १२। १२) अब उसीको यहाँ फिर दोहराकर जनाया कि जैसी वे पूर्व परमविरहाकुल थीं वैसी ही अब फिर हो गयीं, जैसे उस समय मरनेपर उद्यत थीं, सबसे अग्नि माँगती थीं वैसी ही इस समय मरणावस्थाको प्राप्त हैं। वहाँ परमविरहाकुल होनेका कारण था—*'सुनै को श्रवनसूल सम बानी।'* और यहाँ *'नाथहौं निपट बिसारी'* यह कारण है। दोनोंका विरह समान है, अतः दोनों स्थलोंपर *'परम बिरहाकुल'* हुईं। वहाँ बोलनेका मौका न था, इससे हनुमान्‌जी दुःख सहकर रह गये, यहाँ बोलनेका मौका है, अतः बोले।

टिप्पणी—२ श्रीहनुमान्‌जी भक्तोंमें एक ही हैं, अद्वितीय हैं, अतः उनके लिये ग्रन्थकार एक वचनका प्रयोग करते हैं—*'बोला कपि'*।

टिप्पणी—३—हनुमान्‌जी इस प्रसंगमें तीन बार बोले और तीनों बार तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके वचन बोले—(क) प्रथम बार जब सीताजी शरीर त्याग करनेको थीं उस समय उनको जीवित रखनेके लिये अमृतसम *'मधुर'* वचन बोले; यथा *'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।……'* (ख) दूसरी बार, जब सीताजीको सन्देह हुआ कि यह वानरवेषमें रावण ही तो नहीं है तब विश्वास उत्पन्न करनेके लिये *'प्रेमसहित'* वचन बोले; यथा—*'कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास'।* और, (ग) यहाँ धीरज धारण कराना है अतएव समझानेके लिये मृदु विनीत वचन बोले, यथा—*'कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥'* (२। ८५), पुनः यथा—*'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥'* (२। ९२), *'राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥'* (२। १३७), *'कृपासिंधु फेरहिं

तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बैन॥' (२। ११२) अथवा इससे जनाया कि हनुमान्‌जीके वचन इन सब विशेषणोंसे युक्त हैं—मधुर हैं, सप्रेम हैं, मृदु हैं और विनीत हैं। हर जगह सब विशेषण नहीं लिखते बनते; अतएव प्रत्येक स्थानपर कुछ-कुछ लिखकर सर्वत्र इनका ग्रहण जनाया। ☞ पूज्य कविकी यह शैली है कि प्रत्येक स्थानपर सब विशेषण न देकर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वही वहाँ दे देते हैं।

टिप्पणी—४ *'मातु कुसल प्रभु''''दुख दुखी सुकृपानिकेता'* इति। (क) कुशलके साथ *'प्रभु'* कहा और श्रीसीताजीके दुःखसे दुःखी होनेमें *'सुकृपानिकेता'* कहा। तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं, उनके समीप कोई आपत्ति आ नहीं सकती और आपके ऊपर तो अत्यन्त कृपा करते हैं; इसी कारण वे आपके दुःखसे दुःखी हैं। (ख) श्रीजानकीजीने अनुजसमेत प्रभुका कुशल पूछा, अतएव दोनोंका कुशल कहा। [पहले दोनोंका कुशल पूछा, अतः उसे कहा। फिर *'सुखभवन खरारी'* कहकर प्रश्न किया था; अतः उसके उत्तरमें कहा कि वे ऐसे होकर भी आपके दुःखसे दुःखी हैं। इससे प्रभुमें अधिक प्रेम दिखाया। (रा० श० श०)। सुकृपा=सुन्दर कृपा, अर्थात् बिना स्वार्थ या कारणके। *'निकेत'* पद विशेष कृपाका द्योतक है—(मा० त० सु०)]

प० प० प्र०—श्रीसीता-हनुमान्-संवादमें लगभग १४ बार *'मातु', 'जननी'* वा *'माता'* शब्दका प्रयोग किया गया है, परन्तु चौपाईके आरम्भमें 'मातु' शब्द दो ही जगह आया है। एक तो यहाँ दूसरे २७ (१) *'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा।'* में। वाक्यके आरम्भमें *'मातु'* शब्द देकर प्रदर्शित किया है कि श्रीसीताजीकी परम विरहाकुल दशा देख हनुमान्‌जी भी व्याकुल हो गये और गद्‌गद होकर *'मातु'* कहकर अवाक् हो गये, फिर धीरेसे कहा *'कुसल प्रभु'* और पीछे *'अनुज समेता।'*

जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना॥ १०॥*

अर्थ—हे माता! अपने मनमें न्यूनता न लाइये (श्रीरामजीके प्रेमको न्यून या कम न समझिये, ग्लानि न कीजिये), आपसे श्रीरामजीके हृदयमें दुगुना प्रेम है॥ १०॥

टिप्पणी—१ श्रीजानकीजीने कहा था कि *'अहह नाथ हौं निपट बिसारी'* उसीपर श्रीहनुमान्‌जीका यह उत्तर है। जैसे हनुमान्‌जीके (प्रभुसे) कहनेपर कि *'पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान।'* (४। २), प्रभुने उत्तरमें कहा था कि *'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (४। ३। ३), वैसे ही यहाँ कहा गया। दोनों स्थलोंपर 'बिसारने' के सम्बन्धसे *'ऊना'* पदका प्रयोग किया गया है। ऊन=न्यून; हानि। हानि न मानो, हानि तब मानो जब श्रीरामजीको प्रेम न हो, उनमें तो तुमसे दूना प्रेम है। [गीतावलीमें इस स्थानपर *'दीन'* और *'प्रेम पीन'* शब्दोंका प्रयोग किया गया है; यथा—*'मातु! काहेको कहति अति बचन दीन? तबकी तुही जानति अबकी हौं ही कहत सबके जियकी जानत प्रभु प्रबीन॥ ऐसे तो सोचहिं न्याय निठुर-नायक-रत-सलभ, खग कुरंग, कमल, मीन। करुनानिधानको तो ज्यों ज्यों तनु छीन भयो त्यों त्यों मनु भयो प्रेम पीन॥'*''''(सुं० ८)—इस प्रकार 'ऊन' का भाव ग्लानि और दीनता होता है। और] *'प्रेम राम ते दूना'* यह समझानेकी रीति प्रतीत होती है; यथा—*'अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सुहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥'* (२। २१); *'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (४। ३) अथवा, (ख) हनुमान्‌जीने दोनोंका प्रेम अपनी आँखोंसे देख लिया है, उसीके अनुसार दूना कहते हैं, यथा—

श्रीजानकीजीको	श्रीरामजीको
'निशि' विपत्ति है, यथा—*'पुनि मो कहँ सो दिन सो राती'*	१ *'निसि'* कालरात्रि है, यथा—*'कालनिसा सम निसि'*
चन्द्रमा पावकमय है, यथा—*'पावकमय ससि स्रवत न आगी'*	२ चन्द्रमा भानुसम है, यथा—*'ससि भानू'*

अग्निसे भानु अधिक है। अग्निको पास रखकर तापते हैं और भानुके पास जानेपर सम्पाती भस्म होने लगे थे।

कमल कमल समान भासित होता है	३ कमल कुन्तबन समान लगता है,
यथा—*'स्यामसरोजदाम सम सुंदर'*	यथा—*'कुबलयबिपिन कुंतबन सरिसा'*
(इनने) मुद्रिका पाकर पहचाना, निश्चय	४ (इनने) सुग्रीवसे पट-भूषण माँगकर,

* ब्र० चं०—'जनि०' कुसुम विचित्रा, 'तुम्ह०', पायकुलक है।

किया, पर उसे हृदयसे न लगाया।	पहचाना, हृदयसे लगाया, शोक किया।
इनने चूड़ामणि माँगनेपर दिया,	५ इनने मुद्रिका आपसे ही दी,
यथा—*'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा'*	यथा—*'कर मुद्रिका दीन जन जानी'।*

☞ यह भाव अक्षरोंकी रीतिसे कहा गया, जैसा सुना वैसा लिखा। दोनोंका परस्पर प्रेम समान है, इन दोनोंके प्रेमको ये ही दोनों जानें; यथा—*'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥'* अतः वे ही दोनों जान सकते हैं, दूसरा नहीं। यथा—*'राम जोगवत सीय-मनु प्रिय-मनहि प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-परमिति समुझि तुलसी गाउ॥'* (गी० ७। २५) दूना प्रेम आगे संदेसेके द्वारा कहते हैं। श्रीरामजीका प्रेम स्मरण करके हनुमान्‌जी स्वयं प्रेमयुक्त हो गये।

नोट—१ मायापतिका अभिनय मायाके अभिनयसे सदा खरा ही निकलता है। ऊपर जो प्रभुके वियोगजनित दुःखको हनुमान्‌जीने दिखाया है, वह मायाकी सीताके बताये हुए वियोग-दुःखसे दूना है। स्वयं नाटककार जैसा अभिनय कर सकता है, नटी उसको कहाँतक पहुँच सकती है? (गौड़जी)

नोट—२ मा० त० सु०—दू=दूसरा अर्थात् अन्यथा+ना=निषेधवाचक अव्यय। अतः *'तुम्ह तें प्रेम रामके दूना'*=रामजीका प्रेम आपसे दूसरा वा अन्यथा नहीं है! अर्थात् जैसे पहले था वैसा ही बना हुआ है।

नोट—३ रा० शं०—द्विगुणका सबूत इससे भी है कि श्रीजानकीजीने जब अपना दुःख अपने मुँहसे कहा तब गद्‌गद हुईं और यह दशा हनुमान्‌जीकी इतना कहनेपर ही हो गयी कि रघुपतिका संदेश सुनिये। जिसके संदेशके स्मरणसे यह दशा हुई तो उसकी स्वयं क्या दशा होगी? समझ लीजिये।

नोट—४ अरण्यकाण्ड श्रीसीताविलापप्रसंगमें *'हा जगदेक बीर रघुराया'* से *'पुरोडास चह रासभ खावा॥'* २९ (१) से (५) तक केवल पाँच अर्धालियाँ हैं और श्रीजानकी-वियोग-विरहमें श्रीरामजीका विलाप *'हा गुनखानि जानकी सीता।'* से *'प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥'* ३० (६) से (१५) तक दस अर्धालियोंमें है। एकसे दूसरेके विलापमें द्विगुण अर्धालियाँ हैं। इससे अनुमान होता है कि यह भी एक कारण 'दूना' कहनेका हो।

नोट—५ मा० म०—(क) जानकीजी एक स्थानमें बैठी हैं और रामजी सर्वत्र ढूँढ़ते फिरते हैं, एक निरुपाय, दूसरा उपायमें लगा; अतएव दूना। वा, (ख) रामजी लक्ष्मणसमेत दो हैं, दोनोंका प्रेम मिलकर दूना।

नोट—६ मा० शं० सं०—भाव कि जिसको आपसे क्षणमात्र भी प्रीति है उसपर रामजी दूना स्नेह करते हैं, जैसे गृद्धराज और सुग्रीवपर, तो आपके ऊपर इतना प्रेम करना कौन बड़ी बात है।

प० प० प्र०—दोनोंके प्रेममें तरतम भाव देखा जाता है पर दोनों भिन्न परिस्थितिमें हैं, इसका भी विचार करना चाहिये—जैसे, (१) श्रीसीताजी दुष्ट रावणकी कैदमें हैं और श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं। (२) मुद्रिकाको पहचाननेपर हृदयसे न लगा लेनेका कारण यह है कि सीताजी स्त्री हैं, शंकित हैं, भयभीत हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं है। श्रीरामजीकी स्थिति इससे उलटी थी जब उन्होंने *'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।'*

श्रीसीताजीका प्रेम श्रीरामजीसे अधिक था यह सिद्ध हो सकता है। जैसे, (१) इन्होंने स्नान, निद्रा, आहार इत्यादि सबका त्याग किया है और श्रीरामजीने श्रीशबरीजीके आश्रममें बड़ी प्रसन्नतासे फलाहार किया, पंपासरमें स्नान किया, *'परम सुख पावा', 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला।'* (२) सीताजी मरनेको उद्यत हैं, श्रीरामजीने वालीको मारा है, इधर-उधर घूमते हैं और सीताजी रात-दिन बैठी *'सोच रत अहई'।* श्रीसीताजीने रामचिन्तन छोड़ दूसरी बातका चिन्तन नहीं किया। और श्रीरामजी तो अनेक बातोंकी चर्चा करते रहे। सुग्रीव, हनुमान्, शबरी, नारदादिके साथ परम प्रसन्नताके साथ बातचीत तथा व्यवहार करते रहे इत्यादि। अतः 'दूना' कहना समझानेकी रीति ही है॥ १४॥

दो०—रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भएउ भरे बिलोचन नीर*॥ १४॥

---

* ब्र० चं०—मच्छ दोहा है।

अर्थ—हे माता! अब धीरज धरकर रघुपतिका संदेश सुनिये। यह कहकर श्रीहनुमान्‌जी गद्‌गद हो गये (कंठ रुँध गया) और उनके दोनों नेत्रोंमें जल भर आया॥ १४॥

टिप्पणी—१ सन्देश सुननेको कहकर धैर्य धारण करनेको कहा, क्योंकि संदेश सुननेकी अभिलाषासे शीघ्र धैर्य धारण कर लेंगी। परम विरहाकुल थीं, अतः धीरज धरनेको कहा। श्रीरामजीका संदेश हृदयमें आते ही कपि गद्‌गद हो गये, जैसे शिवजीके हृदयमें रामचरितके आते ही वे गद्‌गद हो गये थे, यथा—'*हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥*' (१। १११। ७) चरितसे वक्ता और श्रोता दोनोंको प्रेम उत्पन्न होना चाहिये, यथा—'*कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥*' (१। ४१। ६)। अतः यहाँ वक्ताने हनुमान्‌जीको प्रथम प्रेममें मग्न दिखाया; क्योंकि प्रथम इनके ही हृदयमें संदेशरूपी चरित आया, फिर श्रीजानकीजीको प्रेममें मग्न किया; क्योंकि उनको इस चरितकी प्राप्ति पीछे हुई, यथा—'*प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही॥*' गीतावलीमें श्रीरघुनाथजीकी दशा स्मरणकर प्रेममें मग्न होना कहा है, यथा—'*सियको सनेह, रघुबरकी दसा सुमिरि पवनपूत देखि भयो प्रीति-लीन॥*' (सु० ८)

टिप्पणी—२ प्रथम धैर्य छोड़े रहीं; यथा—'*बचन न आव नयन भरि बारी। अहह*·····।' अतएव धैर्य धारण करानेके लिये बारंबार माता सम्बोधन दिया है, यथा—*मातु कुसल प्रभु अनुज समेता*', '*जननी जनि मानहु जिय ऊना*' और '*सुनु जननी धरि धीर।*'

टिप्पणी—३ '*रघुपति कर संदेसु अब*' इति। '*अब*' का भाव कि प्रथम मैंने श्रीरामजीके गुण कहे, फिर आदिसे सब कथा सुनायी; यथा—'*रामचन्द्र गुन बरनै लागा*', '*आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।*' अब संदेश कहता हूँ।

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता॥ १॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥ २॥*

अर्थ—(सावधान होनेपर हनुमान्‌जी बोले) श्रीरामचन्द्रजीने (यह संदेश) कहा है 'हे सीते! तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी (सुखद पदार्थ) प्रतिकूल हो गये॥ १॥ वृक्षोंके नये-नये कल्ले मानो अग्नि हैं, रात्रि कालरात्रि-सदृश और चन्द्रमा सूर्यके समान है॥ २॥

वि० त्रि०—'*कहेउ राम*·····' इति। '*कहेउ राम*' ऐसा कहकर हनुमान्‌जी, अपने उत्तरदायित्वसे अलग होते हैं। भाव यह कि मैं तो संदेशहर दूत हूँ, मैं रामजीके कहे हुए शब्दोंको दोहराता हूँ। इस सन्देशमें ऐसे वचन हैं, जिनका उच्चारण मेरे लिये उचित नहीं, पर '**दूतो वदति नान्यथा**', 'मैं रामजीका कहना करता हूँ, मेरा कोई दोष नहीं है। तत्पश्चात् हनुमान्‌जीने संदेश कहना प्रारम्भ किया। '*बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता॥*' से लेकर '*जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं*' तक प्रभुका संदेश है। ऐसा अर्थ करना कि '*अस कहि कपि गद्‌गद भयेउ भरे बिलोचन नीर*' हनुमान्‌जी तो गद्‌गद हो गये बोल न सके तब स्वयं रामजी ही बोलने लगे, अति साहस है। यदि ऐसी बात होती तो ग्रन्थकार '*प्रभु संदेस सुनत बैदेही*' न लिखकर, लिखते कि '*प्रभुके बचन सुनत बैदेही।*' संदेशका अर्थ ही दूतादिके मुखसे कहे हुए वचन हैं।

टिप्पणी—१ (क) जैसे श्रीजानकीजीने श्रीरामजीके वनवासका समाचार सुनकर साथ ले जानेकी प्रार्थना करते हुए कहा था कि आपके वियोगमें मुझे कुछ और कोई भी सुखद नहीं हो सकता' सब दुःखरूप हो जायँगे, यथा—*प्राणनाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥*' (२। ६५) वैसे ही यहाँ रघुनाथजी कह रहे हैं कि तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी दुःखद हो गये हैं। इस प्रकार अपना दुःख कहकर श्रीजानकीजीका दुःख दूर कर रहे हैं। (ख) '*सीता*' का भाव कि तुम शीतल करनेवाली हो, तुम्हारे बिना सभी मुझे तापदायक हो तप्त कर रहे हैं, कोई और शीतल करनेवाला नहीं है। (ग) '*मो कहुँ*' एकवचनका प्रयोग करके अपनेको दुःखसे दीन जनाया। पुनः भाव कि सब अपने-अपने धर्म ग्रहण किये

* १५ (१) (१०) तक पायकुलक है—(ब्र० चं०)

हैं और लोगोंके लिये दुःखद या विपरीत नहीं हुए, केवल मुझहीको विपरीत हो गये। पुनः विपरीतका भाव कि यद्यपि सुग्रीवादि मित्रगण और सेवकगण उनकी प्रसन्नताके उपाय करते हैं""परन्तु उन सुखदायक वस्तुओंसे और भी दुःख होता है। यथा—*'घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥'* *'प्रिया हीन मोहि भय उपजावा'* इत्यादि। (वाल्मीकीयमें भी कहा है—**'काननानि सुरम्याणि नदीप्रस्त्रवणानि च। चरन्न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन्नृपात्मजे॥'** (५। ३५। ४८) अर्थात् हे राजकुमारी! यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त रमणीय वनोंमें, नदियोंमें, झरनोंके तटोंपर विचरते हैं, तथापि तुम्हारे बिना वहाँ उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं होता।) (घ) *'सकल'* अर्थात् सभी सुखद पदार्थ इनमेंसे छःको गिनाते हैं। ☞ (ङ) किष्किन्धाकाण्डमें इस सन्देशका कोई उल्लेख नहीं हुआ, पर यहाँके कथनसे वहाँ संदेशका हनुमान्‌जीसे कहना सूचित कर दिया है। यह ग्रन्थकारकी शैली है। वाल्मीकिजीने भी इसी प्रकार जयन्तकी कथा अरण्यमें नहीं कही, पर उसे सुन्दरकाण्डमें कहकर चित्रकूटमें उस चरितका होना सूचित कर दिया। दूसरा काण्ड किष्किन्धामें न लिखनेका यह है कि वहाँ यह संदेशा श्रीरामजीने हनुमान्‌जीके कानमें कहा, उन्होंने सबसे गुप्त रखा; इसीसे गोस्वामीजीने भी वहाँ गुप्त रखा, जब यहाँ हनुमान्‌जीने उसे खोला तब कविने उसे लिखा। गुप्तका प्रमाण, यथा—*'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की। कहँ हरि-सिव-अज-पूज्य-ग्यान-घन, नहिं बिसरति वह लगनि कानकी'* (गी० सुं० ११)।—[संकेत अवश्य है, यथा—*'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।'*]

टिप्पणी—२—*'नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू।""'* इति। (क) श्रीसीताजीकी यही दशा ऊपर कही गयी है, यथा—*'नूतन किसलय अनल समाना।'* (ख) यहाँ नये कोमल पत्तों-कल्लोंको प्रथम कहा, क्योंकि इन्हींका आसन, इन्हींकी साथरी और इन्हींपर सदा जहाँ-तहाँ दृष्टि पड़ती रहती है। लक्ष्मणजी रातको शयनके लिये नवीन किसलयकी शय्या बनाया करते हैं; यथा—*'तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥'* (६। ११। ३); वह कोमल साथरी भी मानो जलाये डालती है। दिनमें सूर्य प्रचण्ड किरणोंसे ताप देते हैं ही, यह बात *'ससि भानू'* से जनायी। अर्थात् जब चन्द्रमा रात्रिमें सूर्यके समान संतप्त करता है, तब सूर्य जो तप्त हैं ही, उसके तापदाता होनेकी कथा ही क्या कही जाय? स्वयं समझ लो। छायाके लिये वृक्षके तले जाते हैं तो वृक्ष ही जलाये डालते हैं, क्योंकि वहाँ तो पत्तोंका समूह है जो अग्निराशि-सरीखे हैं। आगे कहते हैं कि शीतलताके लिये जलाश्रयके पास जाते हैं तो कमलवन कुन्तवन-सदृश दुःख देता है और ऊपरसे जो जल मेघ बरसाते हैं तो वह मानो तप्त तेल ही है। प्रभु वनमें हैं; इसलिये वनके पदार्थोंको दुःखदाता कहा; नगरमें होते तो भोगके पदार्थोंको दुःखद कहते। रात्रिका हाल कहकर आगे दिनका हाल कहते हैं।

नोट—१ कालनिशा—अ० ८३ (५) *'मानहु कालराति अँधियारी'* देखिये।

नोट—२ मा० त० सु०—(क) *'निसि ससि'* का भाव यह है कि कृष्णपक्षमें चन्द्रमा दिनमें भी कभी-कभी वर्तमान रहते हैं। परंतु दिनके चन्द्रमा शीतल नहीं होते, रात्रिहीके शीतल होते हैं। उसमें भी यह हेमन्त-ऋतुका समय है, जिससे अत्यन्त शीतकारक होना उचित था, पर वह प्रचण्ड-सूर्यसम तप्त किरण हो रहे हैं। (ख) 'इस चौपाईमें *'ससि भानू'* इन दोनों पदोंमें परस्पर विपरीतता दिखायी है; अर्थात् चन्द्रमा सूर्य-समान और सूर्य चन्द्रमाके समान हो रहे हैं, यह अर्थ नहीं करनेसे यह दोषापत्ति होगी कि हिम-ऋतुकी रात्रिमें अग्नितत्त्व अतिप्रिय होता है, यहाँ सूर्य अग्नितत्त्व ही हैं।',—[परंतु यह पूरा संदेश प्रसन्नराघव नाटकमें भी है, जो हम आगे दे रहे हैं—दोहा १५ (५) देखिये। वहाँके **'हिमांशुश्चण्डांशुः'** (६। ४३) और हनुमन्नाटकके **'चन्द्रो यत्र दिनेशदीधितिसमः** (६। १९) के अनुसार तो उपर्युक्त अर्थ और टिप्पणीमें दिया हुआ भावार्थ ठीक ही जान पड़ता है। हनु० (५। १८) के 'रामः—**'सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते।'**, लक्ष्मणः—**'चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।'** इस उद्धरणसे भी उसीकी पुष्टि होती है। श्रीरामजी विरह-विलापमें चन्द्रोदय देखकर कहते हैं कि यह सूर्य उदय होता है, इससे वृक्षका आश्रय करो।] दोहा १५ (५) भी देखिये।

कुवलय-बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तप्त तेल जनु बरिसा॥ ३॥
जे हित* रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥ ४॥

अर्थ—कमलका वन भालेके वनके समान है, मेघ मानो उबलता हुआ तेल बरसाते हैं॥ ३॥ जो हित करनेवाले थे वे ही अब पीड़ा दे रहे हैं। तीनों प्रकारकी हवा सर्पकी श्वासोंके समान (विषैली) है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) कमलको भाला कहा। कमलकी नाल उसकी छड़ हुई, फूल ग्रन्थि हैं,फूलकी नोक भालेकी नोक है, मारनेवाला कमलरूपी भालेसे मारकर हृदयको विदीर्ण कर डालता है। कमल भाला है तो भाला चलानेवाला चाहिये। यहाँ कामदेव भाला चलानेवाला है; क्योंकि कमल कामदेवका बाण कहा गया है। इसी विचारसे कमलको भालासे रूपक दिया। (ख) *'बारिद तप्त तेल·····'* इति। विरहीको वर्षा अति दुःखदायी होती है, यथा—*'मोर सोर घनघोर जोर दामिनि दमंकन। पावस सीतल पवन गमन जुगुनून चमंकन॥'* [तप्त तेल क्यों कहा, तप्त जल क्यों न कहा? उत्तर—तप्त जल भी किसी समय सुखदायक होता है और तपस्वियोंको तेल तो सर्वथा त्याज्य है (तेल भोग्य पदार्थ है) (मा० त० सु०)] (ग) किसीका (हनुमन्नाटकका) मत है कि सीताहरण चैत्रशुक्लपक्ष मध्याह्नकालमें हुआ और संदेशा शरद्‌में भेजा गया; अतएव चैत्रसे शरद्‌तकके दुःखोंका संदेश कहा गया। (घ) *'नवतरु किसलय·····'* यह वसन्त है, क्योंकि वसन्तमें वृक्षोंके पुराने पत्ते झड़कर नये पत्ते निकलते हैं। *'कालनिसा सम निसि ससि भानू'* यह ग्रीष्म है, क्योंकि ग्रीष्मके सूर्य दुःखदायक होते हैं। *'कुवलय-बिपिन'* यह शरद् है, क्योंकि कमल शरद्‌में फूलते हैं। और, *'बारिद तप्त तेल·····'* यह वर्षा है।—इस प्रकार यहाँ चार ऋतुओंका वर्णन हुआ। (ङ) शरद् वर्षाके बाद होती है और यहाँ वर्षाका दुःख प्रथम न कहकर पहले शरद्‌का दुःख कहा गया; इस व्यतिक्रमसे भी अपनी व्याकुलता प्रकट कर दी है। विह्वल हैं, कुछ सुध-बुध नहीं है, अटपट कहते हैं, अतएव ऋतुक्रमसे दुःख नहीं कहा। पूर्व *'मो कहुँ सकल भए बिपरीता'* कहा है, यहाँ वर्णनके व्यतिक्रमसे भी विपरीतता जनायी। यदि क्रमसे कहते तो व्याकुलता न जान पड़ती। अथवा, स्वयं कपिको ही क्रमका सँभाल न रहा, क्योंकि वह स्वयं उनकी दशाको स्मरण करके गद्‌गद हो गये हैं, यथा—*'अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर।'* इससे वे व्यतिक्रम कर गये।

वि० त्रि०—*नवतरु किसलय···समीरा'* इति। हनुमान्‌जीने जो कहा था कि *'तुम्ह तें प्रेम राम कर दूना।',* वह रामजीके इसी उक्तिके बलपर कहा था। सीताजीको शीतल तारा, चन्द्रमा और नूतन किसलय—ये तीन वस्तुएँ दुःखद हो गयीं। रामजीकी उक्तिसे मालूम होता है कि उन्हें छओं ऋतुओंकी छः वस्तुएँ दुःखद हो गयीं। सीताहरण फाल्गुन कृष्ण अष्टमीको हुआ और हनुमान्‌जीको सीता-दर्शन अगहन बदी द्वादशीको हुआ। इस भाँति यद्यपि सीताजीका विछोह हुए दस महीने हुए थे, पर उसका स्पर्श छओं ऋतुओंसे हो गया था। फाल्गुन मास शिशिर ऋतु है। इस महीनेमें वृक्षोंके पुराने पत्ते गिरने और नये कोंपल निकलने लगते हैं, यह बड़ा सुखद महीना माना जाता है, सो वे कोंपल रामजीको आग-से मालूम हुए। हेमन्तकी रात्रि बड़ी होती है, और सुखद होती है, सो कालरात्रिके समान दुःखद हो गयी। ग्रीष्म तो स्वभावसे ही दुःखद है पर रात्रिमें चन्द्रोदयसे कुछ शीतलता आ जाती है, सो रामजीको चन्द्रमा भी भानुकी भाँति तापदायक हो गये। शरद्-ऋतुमें कुवलयका खिलना अति सुखद है, सो रामजीको भालेके वनकी भाँति दुःखद हो गया। पावसमें वर्षा बड़ी सुखद है, सो रामजीको मालूम हुआ कि मेघ गरम तेल बरस रहा है। वसन्तमें त्रिविध

---

* जे हित रहे—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०, दुलही। जेहि तर रहे—कोदवराम। जेहि तरु रहे-छ०, रा० प्र०। ☞ ऊपर दिया हुआ पाठ ही उत्तम भी है, क्योंकि यहाँ पूर्वसे सुखदायक वस्तुएँ गिनाते आये, अब कहते हैं कि ये सब जो पहले हितकर थे वे अब दुःखकर हो रहे हैं एवं और भी जो-जो हित पदार्थ थे वे सभी दुःखदायक हो गये। जैसा प्रसन्नराघव नाटकमें कहा है—'विपरीतं जगदिदम्' (६। ४३) अर्थात् जगन्मात्र ही विपरीत हो गया है; वही भाव यहाँ है। 'जेहि तरु रहे·····'का अर्थ होगा 'जिस वृक्षके नीचे रहते हैं वही दुःख देता है'।

समीर अत्यन्त सुखद है सो रामजीको सर्पके फूत्कार-सा दु:ख मालूम हुआ। इस भाँति सीताजीके विछोहसे छओं ऋतु दु:खद हो गयीं। विछोहमें सुखकी सामग्री ही दु:खद हो जाती है।

टिप्पणी—२ *'जे हित रहे करत तेइ पीरा'* इति। जो अहित थे उनको यहाँ नहीं कहते, क्योंकि जो हित थे जब वे ही अहित हो गये तब जो अहित थे उनका कहना ही क्या? वे तो प्रथम ही अहित थे। दूसरे, हितका पीड़ा देना इससे कहा कि सुखद वस्तुका स्मरण होनेसे अधिक दु:ख होता है कि अरे! ये भी हमारे शत्रु हो गये।

टिप्पणी—३ *'उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा'* इति। त्रिविध समीर अर्थात् शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त। और उसके विपर्ययमें उरगस्वास गर्म, शीघ्रतायुक्त तीव्रगतिवाली और दुर्गन्धित है। त्रिविध वायु शीतलताप्रद, रोगहारक और सुखद है, उरगस्वाग गर्मी पहुँचानेवाला, रोगवर्द्धक और दु:खद है।—यहाँतक नवतरुकिसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा, त्रिविध समीर—ये छ: जो सदा सुख देते थे उनको कहा कि ये एवं और भी जितने हित पदार्थ थे वे सब दु:खद हो गये। कृष्णगीतावलीमें गोपियोंके भी ऐसे ही वाक्य हैं; यथा—*'सब बिपरीत भये माधव बिनु हित जो करत अनहित की करनि''''।'* (३०)

नोट—१ यहाँतक इन चौपाइयोंमें यह भी दिखाया कि पाँचों तत्त्व भी दु:खदायक हैं—*'नूतन किसलय मनहुँ कृसानू'* यह अग्नितत्त्व, *'कालनिसा सम निसि ससि भानू'* यह आकाश, *'कुबलय बिपिन कुंतबन सरिसा'* यह पृथ्वी (क्योंकि कमलका आधार पृथ्वी है); *'बारिद तप्त तेल जनु बरिसा'* यह जल और *'उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा'* यह पवनतत्त्व है। (मा० त० सु०)

कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥५॥

अर्थ—कह डालनेसे भी दु:ख कुछ कम हो जाता है (अर्थात् भभक निकल जाती है), पर कहूँ किससे? यह दु:ख कोई जानता नहीं। (अर्थात् कहना तो चाहता हूँ जिसमें घट जाय, पर जो दु:खका जाननेवाला हो वही हमारे हृदयके दु:खको समझ सकता है और उसीसे कहते बने। जो न समझे उससे कहना ही व्यर्थ है। अतएव तुम्हारा विरह दु:ख भीतर भरा हुआ, हृदयको जला रहा है)॥५॥

टिप्पणी—'**कछु**' का भाव कि सब दु:ख तो प्रियके मिलनेपर ही अच्छी तरह मिटता है, कहनेसे किंचित् घट जाता है; सो यहाँ उसका भी योग नहीं है। जो कहा सो मनमें ही है, यही आगे कहते हैं।

नोट—१ यहाँ ध्वनि यह है कि यद्यपि लक्ष्मणजी साथ हैं पर उनसे ये बातें कहनी उचित नहीं अत: उनसे न कहीं।

२—यह पूरा सन्देश प्रसन्नराघवनाटक अङ्क ६ में है, यथा—'**हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहन: सरिद्वीचीवात: कुपितफणिनि:श्वासपवन:। नवामल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम्॥ कस्याख्यायं व्यतिकरममुं मुक्तदु:खो भवेयं को जानीते निभृतमुभयोरावयो: स्नेहसारम्। जानात्येकं शशधरमुखि प्रेमतत्त्वं मनो मे त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि॥**' (४३-४४) मानससे मिलान कीजिये। देखिये, सरसता और गम्भीरता किसमें अधिक है?

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा॥६॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं॥७॥

अर्थ—हे प्रिये! मेरे और तेरे प्रेमका तत्त्व एक मेरा मन ही जानता है॥६॥ सो वह मन भी सदैव तुम्हारे पास ही रहता है। (बस) इतनेहीमें मेरे प्रेमभावको समझ लो। अर्थात् तुम्हारे बिना दु:खी रहता हूँ, रात-दिन मन तुममें लगा रहता है, प्रीतिका रस यही है॥७॥

नोट—१ *'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।''''* ' इति। (क) 'तत्त्व'=सार; 'स्वरूप; यथार्थता; वास्तविक स्थिति या भेद। प्रसन्नराघवनाटकमें भी '**स्नेहसारम्**' और '**प्रेम तत्त्वं मन:**' शब्द आये हैं। श्रीभरतचरणको अयोध्याकाण्डमें *'राम सनेह सुधाकर सारू'* कहा है। 'प्रीतिरस'—जैसे ग्रन्थमें 'प्रेमरस' 'सकोचरस' 'रणरस'

इत्यादि आये हैं, यथा—'*राम प्रेमरसु कहि न परत सो।*' (२। ३१८), '*सो सकोचरसु अकथ सुबानी।*' (२। ३१८), '*रनरस बिटपु पुलक मिस फूला।*' (२। २२९) वैसे ही यहाँ 'प्रीतिरस' अर्थात् जैसे शृङ्गार आदि रस हैं वैसे ही 'प्रीति' भी 'रस' है। प्रीतिरस अन्योन्याश्रित है। प्रेमी और प्रेमास्पद देखनेमें दो देह हैं पर वास्तवमें एक ही हैं। परिपूर्ण मनका लगना ही प्रीतिकी सरसता है। (ख) '*तत्व प्रेम""मोरा*' का भाव यह है कि प्रिया-प्रियतमका यथार्थ भाव, उनके प्रेमकी वास्तविक स्थिति दूसरे किसीको विदित होना अत्यन्त असम्भव है। हनुमन्नाटकमें किंचित् प्रेमतत्त्वका दिग्दर्शन है—श्रीजानकीजीका आलिङ्गन करनेके समय गलेके हारका भी अन्तर श्रीरामजी न सह सकते थे, इसलिये हारको पहनते ही न थे।*

टिप्पणी—१ (क) '*तत्व प्रेम कर*' इति। प्रेमका तत्त्व अर्थात् दुःख यथा—'**स्नेहमूलानि दुःखानि।**' तत्त्वका भाव कि मेरा मन अच्छी तरह जानता है, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे पास ही हमारा मन सदा निवास करता है। (ख) '*एकु मन मोरा*' अर्थात् मेरा मन ही एक है जो जानता है, दूसरा कोई जाननेवाला नहीं है। यथा—'*सियराम अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परइ। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रकट कबि कैसे कहइ॥*' (ग) पहले शरीरका दुःख '*जे हित रहे करत तेइ पीरा*' तक कहा, फिर वचनका दुःख कहा कि '*कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं""*' और अब मनका दुःख कहते हैं कि '*जानत प्रिया एकु मन मोरा।*' सबका तात्पर्य यह हुआ कि शरीरसे दुःख सहते हैं, वचनसे किसीसे कुछ कहते नहीं और मन तुम्हारे पास रहता है।

टिप्पणी—२ (क) श्रीजानकीजीने कहा था कि '*कबहुँक सुरति करत रघुनायक*' उसका यहाँ उत्तर हुआ कि '*सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।*' अर्थात् जैसा प्रेम हमारा तुमपर है, उसे इतनेहीमें जान लो, अधिक क्या कहूँ? जिसपर बहुत प्रेम होता है उसीमें दिन-रात मन लगा रहता है, इससे अधिक प्रीति और कुछ नहीं है। (ख) प्रीतिरस=दुःख, यथा—'*भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेमरस कहि न परत सो॥*' भाव कि मेरा मन तुम्हारा प्रेमी है—सदा पास रहता है। अ० ३१७ (४) देखिये। (ग) यहाँतक प्रभुका संदेश है, इसीसे '*प्रिया*' सम्बोधन दिया गया। रामजीका यह सम्बोधन है।

नोट—२ '*सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु""*' इति। इससे स्पष्ट कर दिया कि प्रेमास्पदमें मनका निरन्तर बिना विक्षेपके लगा रहना यही 'प्रीतिरस' की कुञ्जी है। वाल्मीकीयमें जो—'**नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्। राघवोऽपनयेद्गात्रात्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥ नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः। नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गतः॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते।' 'स देवि नित्यं परितप्यमानस्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।""॥**' (५। ३६। ४२—४४, ४६) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीका मन आपमें ऐसा लगा हुआ है कि डाँस, मच्छड़, पतङ्गे और सर्प उनके शरीरपर रेंगते रहते हैं पर उनको मालूम ही नहीं होता। वे आपके ध्यानमें, आपके शोकमें और आपकी कामनाहीमें परायण रहते हैं। उन्हें नींद नहीं आती, पर यदि कभी आँखें झपक गयीं तो 'हे सीते! हे सीते!' कहते हुए ही आँख खुलती है।""विशेष क्या कहना? वे सदा आपके वियोगमें संतप्त रहते और 'सीते! सीते!' कहकर सदा आपको पुकारा करते हैं।—यह हनुमान्‌जीने कहा है, वह सब भाव इस अर्धालीका है और '*प्रीतिरसु*' की व्याख्या है।

वि० त्रि०—लौकिक प्रेमका तत्त्व दाम्पत्य भाव है, अलौकिक प्रेमका तत्त्व तादात्म्य भाव है, यथा—'*गिरा अर्थ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।*' सरकार सन्देशमें कहते हैं कि उस अलौकिक प्रेमके तत्त्वको मैं ही जानता हूँ, संसार उससे अपरिचित है, अतः नहीं समझ सकता। तादात्म्य भावमें मनका पार्थक्य असम्भव है, फिर भी मन प्रकृतिके अन्तर्गत है, पुरुषके नहीं। अतः स्वामी पुरुषका होता हुआ भी, उसका

* मा० त० सु०—प्रेमका तत्त्व, यथा—'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा। इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥' (हनुमन्नाटक ५। २५) अर्थात् उस समय मैंने अलग पड़ जानेके भयसे कण्ठमें हारका भी आरोपण नहीं किया और अब तो प्यारीसे और मुझसे अनेक पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्षादिकोंका अन्तर पड़ रहा है। ३—'जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं' का भाव कि तुम्हारी विरहाग्निसे संतप्त होकर विदेहावस्थाको प्राप्त हो रहा हूँ।

आधार प्रकृति ही है। इसलिये कहते हैं कि *'सदा रहत तोहि पाहीं'* जिसमें यह शङ्का न उठ सके कि 'मुझे भूल गये।'

पं० प० प्र०—प्रेमतत्त्व=प्रेमका रहस्य या मर्म। किस प्रकारका प्रेम है यह ज्ञान। प्रेम विविध प्रकारका हो सकता है। जैसे कि (१) अनन्य एकाङ्गी प्रेम जैसे चातकका। (२) सापेक्ष प्रेम, यथा *'तुम्हहि राम प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि'* (३) स्वार्थी वाणिज्य प्रेम, यथा—*'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* (४) तादात्म्य प्रेम, ऐसा प्रेम किसीका भी नहीं होता। केवल श्रीसीतारामजीका प्रेम तादात्म्य प्रेम है, कारण कि वे देखनेमें दो हैं पर हैं एक—*'कहियत भिन्न न भिन्न'।* इस प्रकारका प्रेम करना दूसरे किसीके लिये भी असम्भव है, अत: दूसरा कोई उस प्रेमका तत्त्व कैसे जान सकता है?

'जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं'—भाव कि यह प्रेम स्वसम्बन्ध होनेसे उसका वर्णन वाणीसे हो ही नहीं सकता। तुम सार जान लो।'

श्रीलमगोड़ाजी—*'कहेउ राम बियोग तव सीता।.....' जानु प्रीतिरसु.....'* इति। मैंने अपनी विश्वसाहित्य रामचरितमानस (काव्य-समीक्षा) में लिखा है कि हनुमान्‌जी केवल सिपाही और कपि ही नहीं थे किंतु बड़े कुशल कवि भी थे। इसका एक प्रमाण यहाँ भी है। देखिये श्रीरामजीने केवल संकेतरूपमें ही विरह कहा; पर श्रीहनुमान्‌जीने उसे कितने काव्यमय रूपमें वर्णन किया? यह आक्षेप ठीक नहीं है कि मातासे पिताके वियोगका ऐसा वर्णन क्यों किया? कवि सब ही विषय लिखता है और कहता है पर उसको दोष नहीं कहा जाता, क्योंकि वह उस वर्णनसे मुग्ध होता है, मोहित नहीं। दूसरे, श्रीराम और श्रीसीताजीके प्रेममें दूषित अंश है ही नहीं। तीसरे यह वर्णन अलङ्कारों और युक्तियोंद्वारा है, स्पष्ट नहीं। अत: दूषित नहीं कहा जा सकता, विश्वसाहित्यमें तुलसीदासके शृङ्गाररस सम्बन्धी कलाका कमाल ही यही है, नहीं तो 'सादी' और 'कालिदास' भी बच नहीं सके और 'शेक्सपियर' के शृङ्गारवर्णन यदि आप उनके असंशोधित संस्करण (Unexpunged Edition) में पढ़ें तो पढ़ा नहीं जाता। इस स्थानसे अधिक कमाल वहाँ है जहाँ भगवान्‌ने स्वयं भगवतीके अङ्गोंका सांकेतिक वर्णन लक्ष्मणजीके सामने वियोगके पहले ही आवेशमें किया है।

नोट—३ यहाँतक *'विरह'* हुआ, आगे *'कहि बल'*—प्रकरण है।

प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही॥ ८॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥ ९॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥ १०॥

अर्थ—प्रभुका सन्देश सुनते ही वैदेहीजी प्रेममें मग्न हो गयीं, उनको तनकी भी सुध न रह गयी॥ ८॥ श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि हे माता! हृदयमें धीरज धरो और सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरामजीका स्मरण करो॥ ९॥ श्रीरघुनाथजीकी प्रभुताको हृदयमें लाओ (स्मरण करो) और मेरे वचन सुनकर कायरताको छोड़ो॥ १०॥

टिप्पणी—१ तनकी सुध न रही, अत: *'बैदेही'* पद दिया। *'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।.....जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं'* यह प्रेमका संदेशा है, अतएव उसे सुनकर प्रेममें मग्न हो गयीं। मन प्रेममें डूबा है, अत: *'तन सुधि'* नहीं, यथा—*'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।'* यहाँतक संदेशकी सीमा है।

टिप्पणी—२—विपत्तिमें धैर्य धारण करना मुख्य है; इसीसे बारम्बार धीरज धरनेको कहते हैं। यथा—*'रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर' 'कह कपि हृदय धीर धरु माता' 'जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु' 'कछुक दिवस जननी धरु धीरा।'* भाव यह है कि चार बातोंके लिये चार बार धैर्य धारण करनेको कहा।—प्रथम बार संदेश सुननेके लिये, दूसरी बार श्रीरामजीको स्मरण करनेके लिये, तीसरी बार निशाचरोंके मरणके लिये और चौथी बार श्रीरामजीको लंकामें आनेके लिये धीरज धरनेको कहा।

नोट—१ इस प्रसंगमें श्रीहनुमान्‌जीने *'माता'* या उसका पर्यायी *'जननी'* सम्बोधन प्रयुक्त किया है, *'माता'* और कहीं *'जननी'* यह भी भावसे खाली नहीं है। भिन्न-भिन्न शब्द भी साभिप्राय हैं। जब शरीरकी सुधबुध नहीं रहती, परमविरहाकुल दशा होती है तब परमप्रिय *'माता'* सम्बोधन देकर वह दशा दूर की जाती है। तत्पश्चात् *'जननी'* का प्रयोग होता है जब वे सावधान होती हैं। यथा—*'बचन न आव नयन भरि बारी।''''देखि परम बिरहाकुल सीता।''''मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।''''जनि जननी मानहु जिय ऊना'''' ॥'* (५। १४) कठिन असमंजस दूर करने, विश्वास दिलानेके लिये भी प्यारा 'माता' शब्द ही सम्बोधनमें आया है। यथा—*'रामदूत मैं मातु जानकी।', 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी।', 'जननी'* से *'माता'* अधिक सरस है।

नोट—२—श्रीजानकीजीके लिये इस संदेशप्रसंगमें *'सीता', 'प्रिया'* और *'बैदेही'* शब्दोंके प्रयोग भी साभिप्राय हुए हैं, *'कहेउ राम बियोग तव सीता'* में *'सीता'* पदसे जनाया कि आप शीतलत्व प्रदान करती थीं, अतः आपके वियोगसे ताप हो रहा है। प्रेमतत्त्वज्ञ और प्रेमपात्र होनेसे *'प्रिया'* सम्बोधन दिया गया और विदेहदशा होनेसे *'बैदेही'* कहा गया।

टिप्पणी—३ (क) श्रीजानकीजीने श्रीरामजीका *'सेवकसुखदायक'* विशेषण दिया। यथा—*'सहज बानि सेवक सुखदायक'* हनुमान्‌जी भी वही विशेषण देकर उनका स्मरण करनेको कहते हैं। तात्पर्य कि आप तो जानती ही हैं कि वे सेवक-सुखदाता हैं, उनका स्मरण करनेसे अवश्य दुःख मिटेगा और सुख प्राप्त होगा, यथा—*'जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥'* (ख) *'उर आनहुँ प्रभुताई'* और *'तजहु कदराई'* का भाव कि हृदयमें जहाँ कायरता भरी है उसे निकालकर उसकी जगह प्रभुताको धर लो। ऐसा भी संपातीने वानरोंसे कहा था, यथा—*'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥' 'मम बचन''''* ' जो आगे कहते हैं।*

दो०—निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥१५॥

अर्थ—निशाचरसमूह पतंगोंके समान हैं, रघुपतिबाण अग्नितुल्य हैं। हे माता! हृदयमें धैर्य धारण करो और निशाचरोंको जला हुआ ही समझो॥ १५॥

टिप्पणी—१ (क) पतंगे दीपकमें जला करते हैं, यथा—*'दीपसिखा सम जुबतितन मन जनि होस पतंग'* (आ० ४६)। यहाँ रघुपतिबाणको दीपक न कहकर कृशानु कहनेमें आशय यह है कि वहाँ मनरूपी पतंग अकेला एक ही है। युवतितनरूपी दीपशिखा अकेले ही उस एकको जलानेको समर्थ है! पर यहाँ *'निशाचर निकर'* निकर-पतंगे हैं अर्थात् यहाँ पतंगोंका समूह-का-समूह है। दीपकमें अधिक पतंगोंके आ जानेसे दीपक बुझ भी जाता है पर अग्नि नहीं बुझती चाहे जितने उसमें आ पड़ें, सभी भस्म हो जाते हैं। अतएव बाणको कृशानु कहा। अथवा, दीपक पवनसे बुझ जाता है और अग्नि पवनसे प्रचण्ड होता है, अतएव कृशानु कहा। दीपक अबल है, कृशानु प्रबल। (ख)—यहाँ *'निसिचर'* नाम साभिप्राय है। पतंगे रात्रिमें ही मोहवश जलते हैं, यथा—*'जरहिं पतंग मोहि बस भार बहहि खर बृंद।'* (लं०२९) और, निशाचर मोहरूप हैं, यथा—*'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार', 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं'।* ये मोह-निशाको प्राप्त होकर अपने-आप ही अपने नाशमें प्रवृत्त हो रामशरानलमें जलते हैं, यथा—*'प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे। सलभसमूह अनल कहँ जैसे॥'* (६। ८५) (ग) *'जरे निसाचर जानु'* का भाव कि प्रभु इनके वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। पतंगे रातमें जलते हैं और ये भी *'निशि'*-चर हैं, अतः पतंगकी उपमा दी गयी। [*'पतंग'* पद यहाँ अनायास जलनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बाणको कृशानु कहा, क्योंकि धर्मीका गुण धर्ममें भी रहता है, रामजीको *'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'* कह चुके हैं, उसीके अनुसार यहाँ कहा। (मा० त० सु०)]

* 'उर आनहु' अर्थात् शोकमें उन्हें विस्मरण न करो। प्रभुताई, यथा—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई; इसके आगे रावणकी प्रभुता क्या चीज है?

नोट—१ आपसे जल मरनेमें प्रमाण यह है—शूर्पणखा स्वयं पंचवटीमें आकर निशाचरकुलकी नाशक हुई। खरदूषणादि स्वयं आकर लड़े और मरे। रावणने स्वयं अपने मरणका उपाय रचकर सीताहरण किया। अतः पतंगका अग्निमें आकर जल मरना कहा। २—हनुमान्‌जी भी रघुपतिबाणके सदृश हैं। ये लङ्कादहन करेंगे, आपसे ही आप निशाचर यहीं अपने जलनेका उपाय कर देंगे। मं० श्लो० ३ का '**दनुजवनकृशानुम्**' विशेषण चरितार्थ करेंगे। ३—यह दोहा दोहरा मिश्रित है। (ब्र० चं०)

जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंबु रघुराई॥ १॥
राम बान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥ २॥

अर्थ—यदि रघुवीर श्रीरामजीने सुध पायी होती तो वे रघुराई (रघुकुलके राजा, रघुकुलमें श्रेष्ठ रामचन्द्रजी) विलंब न करते॥ १॥ हे श्रीजनकनन्दिनीजी! रामबाणरूपी सूर्यके उदय होनेपर राक्षसोंका सेनारूप समूहरूपी अंधकार कहाँ रह जायगा?*॥ २॥

टिप्पणी—१ '*रघुबीर*' और '*रघुराई*' के भाव—सभी रघुवंशी कृपालु और बंदीछोर हैं और ये तो सब रघुवंशियोंके राजा हैं और वीर हैं; तब कैसे विलंब करते? कोई आर्त्त हो और वीरको उसकी खबर मिल जाय फिर भी यदि वह विलंब करे तो अनीति है। ये रघुराई हैं, रघुवंशी राजा नीतिमें बड़े निपुण होते आये हैं, तब ये कैसे विलंब करते? खबर ही न मिली, इससे कुछ कर न सके। तात्पर्य कि हमने जाकर खबर दी नहीं कि वे आये यथा—'*अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे॥*' '*सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ। अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥*' (लं०)

नोट—१ (क) '*रघुबीर*' और '*रघुराई*' में पुनरुक्ति नहीं है। दो भावसे दो शब्द कहे गये। पराक्रम करके ले आनेमें रघुवीर कहा, यथा—'*एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनहुँ॥*' (४। १८) राजा जनकी रक्षामें तत्पर रहते हैं, अतः विलंब न करते। (ख) '*रघुराई*' शब्दमें लक्षणमूलक अगूढ़ व्यंग है कि रघुवंशी राजा सदासे धर्मात्मा, सत्यसंकल्प, सत्यप्रतिज्ञ, जनरक्षक, वीर, आश्रितपालक, आर्त्तदुःखहरण, परोपकारपरायण, दयालु इत्यादि गुणसम्पन्न होते आये हैं, वे कभी विलंब नहीं कर सकते थे।

टिप्पणी—२ (क) सूर्योदयसे बिना श्रम ही तमका नाश हो जाता है, यथा—'*उयेउ भानु बिनु श्रमु तम नासा।*' इसी तरह रामबाणसे बिना परिश्रम राक्षसोंका नाश होगा। (ख) यहाँ जातुधानकी सेनाको '*तम बरूथ*' कहा है, यथा—'*तुव बियोग-संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबानकी। नतु कहु, कहँ रघुपति-सायक-रबि, तम-अनीक कहँ जातुधानकी।*' (गी० ५। ११) यहाँ सेना और मायाको प्रकट नहीं कहनेका तात्पर्य यह है कि यहाँ पहले रविका उदय कहा, सूर्योदयपर '*तम बरूथ*' *कहँ*'?—वैसे ही रामबाणके उदयपर जातुधानकी '*अनीक कहँ*'? जब राक्षसोंकी सेनारूपी अंधकार समूह उदय होते ही रह ही न गया तो दिखायी कहाँसे दे, जब दिखायी नहीं देता तो लिखकर कैसे दिखायें? इसी विचारसे गोस्वामीजीने यह भाव दिखलानेके लिये कि राक्षसोंका पता ऐसे ही न लगेगा जैसे चौपाईमें 'अनीक' पदका। यहाँ सेना पदको गुप्त रखा, केवल 'जातुधानकी' कहा।

नोट—२ ऊपर टिप्पणी २ (ख) में दिये हुए गीतावलीके उद्धरणके अनुसार '*उए*' (उदय होनेपर) का भाव यह भी हो सकता है कि आपके वियोगजन्य विरह-दुःखमें वे अपने सुन्दर '*बान*' (स्वभाव, बाना एवं बाण) को ही भूल गये, इसीसे 'रघुपतिसायकरवि' (रामबाणरूपी रवि) का उदय न हुआ, अब समाचार पाकर वे उदय होंगे। बस, उनके उदय होते ही निशिचरतमका सहज ही नाश है। यह भाव

---

* १ 'रामबान रबि उए……' का दूसरा अर्थ—'राक्षससमूहरूपी अंधकारके लिये रामचन्द्रजीके बाणरूपी सूर्य उदय हो चुके हैं।' (तभी तो दण्डकारण्यमें जनस्थानके चौदह सहस्रराक्षसोंका खरदूषणसहित संहार हुआ। इस अर्थको लेकर यह कहा जाता है कि यहाँ 'रामबान' के उदयसे हनुमान्‌जी अपनी ओर संकेत कर रहे हैं अर्थात् उनके बाणरूप मैं निशिचरनाशके लिये आ गया। यथा—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥' (५। १)

वाल्मीकीयके—'**त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे॥**' (५। ३८। ४८) (अर्थात् मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि आपके वियोगजन्य शोकके कारण वे विषयान्तरसे पराङ्मुख हो रहे हैं।) तथा '**रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते॥**' (५। ४०। १३) (अर्थात् और श्रीरामजीका दुःख देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी सन्तप्त रहा करते हैं)—इन उद्धरणोंसे भी सिद्ध होता है।

ब्र० चं०—'*जौं""जानकी*' पायकुलक और '*तम बरूथ कहँ जातुधान की*' प्रियंवदा है।

टिप्पणी ३—यहाँ राक्षसोंका नाश दो बार कहा। प्रथम 'रघुपतिबाणकृशानु' में पतंगसरीखे आ मरना दिखाया और अब दूसरा दृष्टान्त 'रामबाणरवि' से निशाचर अनीक-तमबरूथका नाश कहा। दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि—प्रथम उपमासे राक्षसोंका निःशेष नाश न हुआ क्योंकि अग्निमें सब पतंगे नहीं मरते; जो उसमें आकर गिरते हैं वही मरते हैं। अतएव निःशेष-नाश-सूचक दूसरा दृष्टान्त दिया। सूर्योदयसे सर्वत्र अंधकारका नाश हो जाता है। अथवा, प्रथम दृष्टान्तसे राक्षसोंके शरीरका नाश कहा और दूसरेसे उनकी मायाका। यथा—'*एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया॥*' (६। ५१) '*प्रभु छन महुँ माया सब काटी। जिमि रबि उए जाहिं तम फाटी॥*' (६। ९६) 'अथवा, एक दृष्टान्त रात्रिका दिया (पतंगे रात्रिमें ही अग्निमें आकर जल मरते हैं, दिनमें नहीं) और दूसरा दिनका (सूर्योदयसे दिनका प्रारम्भ होता है) जो प्रथम दृष्टान्तसे अर्थात् रात्रिके दृष्टान्तसे बच गये उनका नाश दिनके दृष्टान्तसे हो गया। तात्पर्य यह है कि रामबाण राक्षसोंका दिन और रात्रि दोनोंमें अर्थात् निरन्तर नाश करेगा। यथा—'*छीजहि निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥*' (६। ७१) [रामबाणपर रविका आरोप कर राक्षसवृन्दपर तमबरूथका आरोपण किया, क्योंकि सूर्योदयसे अंधकारका नाश अनायास और अवश्यम्भावी है। यहाँ परम्परितरूपक अलंकार है। लंकाके राक्षसोंको अभीसे मरे हुए मानना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।]

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥ ३॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥ ४॥

अर्थ—हे माता! मैं अभी आपको लिवा ले जाऊँ; पर 'रामदोहाई' मुझे प्रभुकी आज्ञा नहीं है॥ ३॥ हे माता! कुछ ही दिन और धैर्य धारण करो, वानरोंसमेत रघुवीर श्रीरामजी यहाँ आयेंगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विश्वास दिलानेके लिये शपथ खायी थी, यथा—'*रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥*' (१३। १९) यहाँ '*राम दोहाई*' की। पहले शपथका प्रयोजन था, इससे वहाँ शपथ की और यहाँ '*दोहाई*' का ही प्रयोजन है। 'दोहाई' में द्रोहताका भी भाव भरा हुआ है। अर्थात् बिना आज्ञाके यदि मैं ले जाऊँ तो स्वामिद्रोही होऊँगा। आज्ञाभंग होगी और आज्ञाभंग वधके समान है; यथा—'**आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रवधमुच्यते।**' तात्पर्य कि यदि मैं झूठ कहता हूँ तो स्वामीकी द्रोहताको प्राप्त होऊँ। अथवा, दोहाई और शपथ पर्याय हैं। वे कहते हैं कि मैं अभी ले जाऊँ। पर 'इस लघुरूपसे हनुमान्जी कैसे लंकासे ले जा सकेंगे? इनसे यह कार्य होना असम्भव है'—ऐसा सन्देह कदाचित् जानकीजीके हृदयमें हो तो वे उसका समाधान प्रथम '*रामदोहाई*' अर्थात् रामशपथ करके मिटाना चाहते हैं। अर्थात् यह कहते हैं कि मैं इसके लिये समर्थ हूँ, पर क्या करूँ प्रभुकी आज्ञा नहीं है। इसपर उनको विश्वास न हुआ, यथा—'*हैं सुत सब कपि तुम्हहिं समाना""*'। पुनः प्रथम हनुमान्जीने रामबाणका माहात्म्य कहा और '*अबहिं मातु मैं जाऊँ लवाई""*', अपनी इस उक्तिसे रामबाणका प्रभाव अपनेमें जनाया और यथार्थतः आप रामबाणसम हैं भी, यथा—*जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥*' (ख) '*प्रभु आयसु नहिं,* यथा—'*कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।*' अर्थात् सन्देशा कहकर लौट आना। साथ न लाना। अध्यात्ममें भी ऐसा ही कहा है। '*प्रभु*' का भाव कि जब वे स्वयं समर्थ हैं तब मुझको ले जानेकी आज्ञा कैसे दें? [आज्ञा न होनेका कारण यह भी है कि प्रभु सत्यप्रतिज्ञ हैं। यदि हनुमान्जी श्रीसीताजीको ले जाते तो '*निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।*' (३। ९) यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य हो जाती; क्योंकि निशाचरोंका नाश न हो पाता। अतः श्रीसीताजीको लानेकी आज्ञा नहीं दी गयी। वाल्मीकीय कल्पकी कथा इससे कुछ भिन्न है। वहाँ हनुमान्जी श्रीसीताजीसे कहते हैं कि मेरी पीठपर बैठ लो, मैं अभी ले चलूँ। पर सीताजी

स्वयं पर-पुरुषके स्पर्शको राजी न हुईं; इससे हनुमान्‌जी साथ न ले जा सके। और यहाँ, हनुमान्‌जी अपनेको समर्थ बताते हुए भी प्रभुकी आज्ञाके अधीन होनेसे नहीं ले जाते। गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है; यथा—*'निदरि अरि, रघुबीर-बल लै जाउँ जौं हठि आज। डरौं आयसु-भंगतें, अरु बिगरिहै सुरकाज॥'* (५। ६)

नोट—*'कछुक दिवस जननी धरु धीरा'* इति। *'कछुक दिवस'* अल्पकालका वाचक है। जिसे गीतावलीमें *'तौलौं', मातु! आपु नीके रहिबो। जौलौं हौं ल्याबौं रघुबीरहिं, दिन दस और दुसह दुख सहिबो॥'* (५। १४), *'बाँधि बारिधि, साधि रिपु, दिन चारिमें दोउ बीर। मिलहिंगे कपि-भालु-दल सँग, जननि उर धरु धीर॥'* (५। ६) और कवितावलीमें *'दिवस छ-सात जात जानिबे न, मातु! धरु धीर, अरि-अंतकी अवधि रही थोरिकै।'* (५। २७) कहा है; उसीको यहाँ *'कछुक दिवस'* कहा है। दस, चार, छः, सात वस्तुतः गिनतीके लिये नहीं है। धीरज बँधानेके लिये थोड़े ही दिनके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है—**'न ते चिरादागमनं प्रियस्य क्षमस्व मत्सङ्गमकालमात्रम्।'** (५। ३९। ५४), (अर्थात् आप तबतक प्रतीक्षा करें जबतक मैं उन्हें जाकर लिवा लाऊँ। अब उनके आनेमें देर नहीं), **'तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी।'** (५। ३९। ४४), (अर्थात् आपका मङ्गल हो। आप धीरज धरें और कालकी प्रतीक्षा करें) इत्यादि। इस तरह *'कछुक दिवस'* का तात्पर्य यही है कि बस मेरे जानेकी देर है, मैं गया, उनको समाचार मिला कि सेना लेकर वे आये—बस आप इतने समयकी प्रतीक्षा करें। वे आये और रावणका नाश हुआ।

टिप्पणी—२ *'कछुक दिवस'।* यथा—*'बाँधि बारिधि, साधि रिपु, दिन चारिमें दोउ बीर।'* (गी० ५। ६) प्रथम जब (दोहा १५ में) कहा था कि *'जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु'* तब उसमें दिनोंका कुछ प्रमाण नहीं कहा; अब *'कछुक दिवस'* कहकर दिनका प्रमाण किया कि चार दिनमें आवेंगे इतने दिन धीरज धरो।

टिप्पणी—३ *'कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा'* इति। पूर्व राक्षसोंके नाशके सम्बन्धमें रामबाणको कृशानु और भानु कहा। पर इससे यह निश्चय न हुआ कि किस प्रकारसे मारेंगे। वहींसे बाण छोड़ेंगे या यहाँ आकर युद्ध करेंगे? इस बातको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि *'कपिन्ह सहित'''''*।' 'रघुबीर' का भाव कि *'कपिन्ह सहित'* राक्षसोंपर चढ़ाई करेंगे, निशाचरोंको मारेंगे और तुमको ले जायेंगे।—[वाल्मी० ५। ३९। १४-१६ का भाव 'रघुबीर' शब्दमें यहाँ भर दिया है। अर्थात् मनुष्य, देवता, दैत्य, सूर्य, इन्द्र और यमराज भी उनके सामने नहीं ठहर सकते]।

मा० त० सु०—भाव कि प्रबल प्रचण्ड वीरधुरीण और समस्त निशिचरोंके नाशके लिये समर्थ होकर भी सुग्रीवकृत सेवाको स्वीकार करते हुए और *'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'* इस वरदानको सत्य करनेके लिये 'रघुबीर' वानरोंके साथ आवेंगे। [नोट—जाम्बवन्तजीने इसका कारण किस सुन्दरतासे कहा है, देखिये—*'कौतुक लागि संग कपि सैना।'* इससे ईश्वरता भी प्रकट न होगी।]

टिप्पणी—४ *'कह कपि हृदय धीर धरु माता'* से यहाँ *'कछुक दिवस जननी धरु धीरा'''''*।' तक *'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु'* इस संदेशको चरितार्थ किया।

निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं। तिहुँ पुर नारदादि जस गैहहिं॥ ५॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं* समाना। जातुधान अति भट† बलवाना॥ ६॥
मोरें हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा‡॥ ७॥

अर्थ—श्रीरामजी निशाचरोंको मारकर आपको यहाँसे ले जायँगे। तीनों लोकोंमें नारदादि प्रभुका यश गावेंगे॥ ५॥ श्रीसीताजी बोलीं—हे पुत्र! सब वानर तो तुम्हारे ही समान हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और अत्यन्त बलवान् हैं॥ ६॥ अतः मेरे मनमें परम संदेह है। यह सुनकर कपिने अपना शरीर प्रकट किया॥ ७॥

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीने प्रथम बालकाण्डकी सब कथा कही; यथा—*लागी सुनै स्रवन मन लाई।*

* तुम्हहिं—भा० दा०। तुम्हहि—का, ना० प्र०, गी० प्रे०। तोहि—रा० गु० द्वि०। † भट अति—रा० प्र०। ‡ निसिचर मारि''''।' १०३४ वाँ भेद है। 'तिहुँ पुर''''' ११७८ वाँ भेद है। अर्धाली ६ से ९ तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)।

आदिहुँ तें सब कथा सुनाई॥' अयोध्या और अरण्य भी कहा। किष्किन्धाकी कथा न कही थी, वह श्रीसीताजीके पूछनेपर कही—'***नर बानरहिं संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥***' सुन्दर वर्तमान है; इसकी कथा न कही, क्योंकि कथा तो वे स्वयं देख रही हैं।—(मेरी समझमें किष्किन्धाकाण्डकी भी कथा कही थी पर बहुत संक्षिप्त। दूतोंका भेजा जाना, स्वयंप्रभाद्वारा सिंधुतटपर पहुँचना और सम्पातीसे सीताजीका पता मिलना यह किष्किन्धामें ही है। समुद्रलंघन, सीताजीको लङ्कापुरीमें रावणके महल तथा घर-घरमें खोजते हुए अशोकवाटिकामें पहुँचना और मुद्रिकाका गिराना—यह सुन्दरकाण्डकी कथा कही)। रही लङ्का और उत्तरकी सो यहाँ कही। '***निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं***' यह लङ्काकाण्ड है और '***तिहुँपुर नारदादि जसु गैहहिं***' यह उत्तरकाण्ड है। यथा—'***राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुरमुनि बरबानी॥***' (१। २५), '***बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥***' (७। ४२) पुनश्च यथा—'**यस्यावतारचरितानि विरंचिलोके गायन्ति नारदमुखाभवपद्मजाद्याः**' (अ० रा०) तथा '***नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥***' (७। ४२)—['***निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।***' यथा—'**हत्वा तु समरे रक्षो रावणं सहबान्धवैः। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यतः॥**' (वाल्मी० ५। ४०। १६)]

टिप्पणी—२ ☞ जाम्बवन्तजीके वचन जो उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहे थे वे हनुमान्‌जीको अत्यन्त भाये थे, यथा—'***जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥***' (५। १) इसीसे हनुमान्‌जीने उन्हींके वचन श्रीजानकीजीसे कहे—

जाम्बवन्तके वचन	हनुमान्‌जीके वचन
कपि सेन संग	१ *कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा*
संहारि निसिचर	२ *निसिचर मारि*
राम सीतहि आनिहैं	३ *तोहि लै जैहहिं*
त्रैलोकपावन सुजस	४ *तिहुँ पुर*
सुरमुनि नारदादि बखानिहैं	५ *नारदादि जसु गैहहिं*

नोट—१ (क) प्रथम निशाचरका मारना कहकर तब ले जाना कहा। क्योंकि अवतारका मुख्य प्रयोजन निशिचर-वध है। '***तोहि लै जैहहिं***' अर्थात् अवश्य ले जायँगे, पर मुख्य कार्य करके। (ख)—यहाँ '***गैहहिं***' का अन्वय '***तिहुँपुर***' के साथ है। अर्थात् अभीतक तो केवल अनुभवसिद्ध नारदादि ही उसको गाते थे, किंतु अब तीनों लोकोंके लोग गावेंगे। 'आदिसे याज्ञवल्क्य एवं और भी त्रिकालदर्शी महात्माओंको सूचित कर दिया, यथा—'***यह सब जागबलिक कहि राखा।***' नारद गानविद्यामें अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा यश सबको सुलभ हो जायगा। अतः उनको प्रथम कहा। (मा० त० सु०)

नोट—२—'***हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।***' इति। यहाँ '***सुत***' सम्बोधन अत्यन्त स्नेहसूचक वात्सल्य भावमें है। उनको तरस आता है कि यह और इनके साथ सब इतने छोटे हैं, ये सब तो निशाचरोंके एक बारके आहार हो जायँगे। वात्सल्यवश वे नहीं चाहतीं कि ये मारे जायँ।

नोट—३—'***जातुधान अति भट बलवाना।***' इति। '***जातुधान***' शब्दके स्वाभाविक जातीय उत्कटता और '***भट***' से समरके योग्य उत्कटता जनायी। यथा—'***एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।***' (१। १८०) और '***अति बलवाना***' से मायिक बलमें निपुणता जनायी; यथा—'***कामरूप जानहिं सब माया।***'—(मा० त० सु०)

टिप्पणी—३ '***जातुधान अति भट***' इति। श्रीरामजी वानरोंसहित आयेंगे और राक्षसोंको मारकर ले जायँगे, इस विषयमें श्रीसीताजीको सन्देह नहीं है। इसीसे इनके विषयमें वे सन्देह नहीं करतीं। वानर सब बहुत छोटे डील-डौलके हैं ऐसा अनुमान करके उनको वानरोंके विषयमें संदेह है। इसीसे इसकी शंका की। संदेह यह है कि वानर-भालु तो निशाचरोंके आहार हैं, इनमें राक्षसोंसे युद्ध करनेकी योग्यता नहीं है, तब सब बेचारी वानरी सेना व्यर्थ क्यों मारी जाय? उनको लानेकी आवश्यकता क्या? श्रीरामजी तो अजेय हैं, वे समस्त राक्षसोंके लिये अकेले ही बहुत हैं, यथा—'***जीति को सकै अजय रघुराई।***' सेना

मारी जायगी तो श्रीरामजीको अपयश होगा।

टिप्पणी—४-*'मोरे हृदय परम संदेहा'* इति। भाव कि तुम्हारा 'लघु' शरीर देखकर युद्धकी योग्यतामें 'संदेह' है। और राक्षस *'अति भट'* बलवान् हैं। कहाँ *'परम लघु'* और कहाँ *'अति भट.....'?* अतः परम संदेह है।

टिप्पणी—५-*'सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा।'* इति।—देह प्रकट करनेका भाव कि हनुमान्‌जीने विचार किया कि मैं मुखाग्र (जबानी, वचनमात्रसे) कितना ही कहूँगा कि मेरा बहुत बड़ा रूप है, मैं बड़ा बलवान् हूँ, तो कोरी बातसे इनको विश्वास न होगा। अतएव अपना रूप दिखाया, यथा—*'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप।' 'निज देहा'* का भाव कि यह उनका सहज रूप है जिसमें वे सदैव रहा करते हैं और अन्य छोटे-बड़े रूप तो कार्यानुसार समय-समयपर इच्छानुसार धारण किया करते थे, पर वे असली रूप नहीं हैं।

नोट—४ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे कहा है कि आप मेरी पीठपर सवार हो लें, मैं अभी आपको श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचाता हूँ। उस समय उन्होंने ऐसा ही संदेह प्रकट किया है। यथा—**'तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप॥ कथं चाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि।.....'** (५। ३७। ३१-३२) अर्थात् तुम्हारे इन वचनोंसे तो तुम्हारा वानरपना प्रकट होता है। भला इतने छोटे शरीरसे तुम मुझे कैसे वहाँ पहुँचा सकते हो? तब हनुमान्‌जीने बहुत आगा-पीछा सोचकर शत्रुनाशकारी अपना रूप वैदेहीको दिखलाया।

कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥ ८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ॥ ९॥

अर्थ—स्वर्ण-पर्वतके आकारका विशाल वह शरीर था, जो संग्राममें शत्रुके मनमें सहज ही अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला, अत्यन्त बली और वीर था (एवं जो अत्यन्त बलवान् वीरोंको भी रणमें भय उत्पन्न करनेवाला था)॥ ८॥ (इसे देखकर) तब श्रीसीताजीके मनमें भरोसा आया। हनुमान्‌जीने पुनः लघु रूप कर लिया॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीने कहा था कि *'हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना',* इसके उत्तरमें यह रूप दिखाया। और, जो कहा था कि *'जातुधान अति भट बलवाना'* उसके सम्बन्धसे *'समर भयंकर अति बल बीरा'* विशेषण दिया गया। अर्थात् अति भटके लिये अति वीर हैं और बलवान्‌के लिये अति बली हैं। *'समर भयंकर'* यह उनसे अधिक गुण है, यथा—*'हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥'* (६। ४६)

नोट—१ श्रीजानकीजीने राक्षसोंमें तीन गुण और इनके द्वारा तीन प्रकारके भय सुनाये थे—जातुधान, अति भट, अति बलवान्। इन तीनोंका प्रतिकार हनुमान्‌जीके *'कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥'* इस रूप और इस अर्धालीमें कथित गुणोंसे हो गया। उनको कुछ कहना न पड़ा। वहाँ *'जातुधान'* (पर्वताकार विशाल देहवाले, यथा—*'कहुँ माल देह बिसाल सैल समान.....'*) और यहाँ *'कनकभूधराकार'* (अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान। सुमेरु पर्वतके समान कहकर राक्षसोंसे बहुत बड़ा और साथ ही परम सुन्दर तेजोमय जनाया। सुमेरु सब पर्वतोंसे बड़ा है। *'अति बल बीरा'* से यह भी जनाया कि राक्षस मायावी होते हैं तो हनुमान्‌जी उनकी मायाको नाश करनेमें भी समर्थ हैं। वाल्मीकीयके **'मेरुमन्दरसङ्काशो बभौ दीप्तानलप्रभः।'** (५। ३७। ३७) के भाव *'कनकभूधराकार'* में हैं। अर्थात् सुमेरुकी तरह लम्बे-चौड़े, ऊँचे और दहकती हुई अग्निकी कान्तिके समान दीप्तिमान्। **'.....ताम्रवक्त्रो महाबलः। वज्रदंष्ट्रनखो भीमो.....॥ सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम्। लंकामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे॥'** (वाल्मी० ५। ३७। ३८-३९) के भाव *'समर भयंकर अति बल बीरा'* में है अर्थात् लालमुख, महाबलवान्, वज्रसमान दाँतों और नखोंवाले भयंकर रूपधारी, लंकापुरीको त्रिकूटाचल तथा वन, महल इत्यादि सहित रावणको भी उठा ले जानेको समर्थ—ऐसा उनका रूप था।

टिप्पणी—२ *'समर भयंकर'* इति। इस विशेषणसे जनाया कि हनुमान्‌जीका दर्शन भयंकर नहीं है, वे

केवल समरमें भयंकर हैं, शत्रु इन्हें देखते ही भयके मारे भाग जाते हैं। यही रूप देखकर भीमसेन भी डर गये थे, यथा—*'कौनके तेज बलसीम भट भीम-से भीमता निरखि कर नयन ढाँके॥'* (क० लं ४५), *'जयति भीमार्जुन-व्यालसूदन-गर्बहर''''।'* (विनय० २८)

नोट—२ *'सीता मन भरोस तब भयऊ'* इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीका यह रूप देखकर वे शीतलता (शान्ति) को प्राप्त हुईं, अतः 'सीता' शब्द दिया। (ख)—पूर्व कहा था कि *'मोरे हृदय परम संदेहा'* *'सीता मन''''।'* इस तरह हृदय और मनको पर्यायी जनाया। यथा—**'स्वान्तं हृन्मानसं मनः।'** (ग) भरोसा यह हुआ कि ये अकेले ही निस्संदेह राक्षसोंको मार डाल सकते हैं; यथा—**'कामं त्वमपि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान्।'** (वाल्मी० ५। ३७। ५७), और अन्य समस्त वानर भी अवश्य ऐसे ही समर्थ हैं। जब वे सब-के-सब साथ होंगे तब कहना ही क्या? अतः संदेह दूर हो गया। (घ)—*'तब'* अर्थात् जब यह रूप देख लिया तब। ☞ यह रूप श्रीसीताजीने ही देखा और किसीने नहीं।

नोट—३—*'पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ'* इति। (क) *'पुनि'* अर्थात् जिस कामके लिये बड़ा रूप धारण किया था जब वह कार्य हो गया तब 'पुनः' छोटे हो गये। दूसरे अभी इस विशाल शरीरकी अधिक आवश्यकता भी नहीं है और औरोंसे यह रूप छिपाना है। (ख)—छोटा रूप धारण करनेमें *'पवनसुत'* नाम दिया। पवन अत्यन्त सूक्ष्म है, वैसे ही इन्होंने सूक्ष्मरूप कर लिया। (पं० रा० कु०) अथवा, अत्यन्त शीघ्रतासे लघु हो जानेसे पवनसुत पद दिया। (प्र० स्वामीका मत है कि हनुमान्‌जी रामदूत हैं, रामकृपांकित हैं, समुद्र लाँघकर आये हैं, इतनेपर भी उनके पराक्रममें संदेह हुआ। भक्तानामाग्रगण्यके विषयमें होनेसे यह संदेह पापरूप है। इस संदेहरूपी पापका निरास करनेसे *'पवनसुत'* नाम दिया।)

(ग)—वृहत् रूपसे एकदम लघुरूप होकर यह भी जनाया कि मायाको जीतनेमें भी समर्थ हैं। बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा हो जाना भी तो माया ही है।

दो०—सुनु माता साखामृग* नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभुप्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल†॥ १६॥

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा—) हे माता! सुनो। वानरोंमें बल और बुद्धि बहुत नहीं होती; परन्तु प्रभुके प्रतापसे परम लघु सर्प गरुड़को खा सकता है॥ १६॥

टिप्पणी—१ (क) भाव यह कि जो मैंने अपना विशाल और अत्यन्त बलवीर रूप दिखाया और बुद्धिसे आपको समझाया-बुझाया यह बल-बुद्धि वानरोंमें नहीं होती। यह प्रभुका प्रताप है। इसमें देहके बड़े-छोटे होनेसे कुछ प्रयोजन नहीं, बल और बुद्धिका भी प्रयोजन नहीं। राम-प्रताप विशाल है, उसीसे सब काम होता है। प्रभु-प्रतापसे गरुड़ लघु व्यालके समान हो जाता है और परम लघु व्याल गरुड़के समान हो जाता है, यथा—*'देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥'* (५। २०) जैसे गरुड़का आहार गरुड़को खा ले; वैसे ही हम सब राक्षसोंके आहार हैं, यथा—*'नर कपि भालु अहार हमारा';* पर हम राक्षसोंको भी खा जायँगे। श्रीजानकीजीको सन्देह हुआ था कि वानर राक्षसोंसे लड़ भी सकेंगे? इसीसे गरुड़ और व्यालका दृष्टान्त दिया। अर्थात् युद्धकी क्या कही, वानर तो राक्षसोंको खा जायँगे।—[यहाँ 'गरुड़' से रावणादि निशाचर और *'परम लघु ब्याल'* से अपने तथा समस्त वानर-भालु आदिको जनाया। यहाँ वानरोंमें बल और बुद्धिका निषेध इसलिये किया कि इन धर्मोंको 'प्रभु-प्रताप' में स्थापना करना अभीष्ट है।—यह पर्यस्तापह्नुति अलंकार है'।]

श० सुं० दा०—पुराणोंमें कथा है—एक बार गरुड़जी कैलाससे निकलकर कहीं जाने लगे कि शिवजीके लंगोटेमें बैठे हुए और इधर-उधर लिपटे हुए साँपोंने बड़े जोर-जोरसे फुफकारना आरम्भ किया; गरुड़ने कहा यदि शङ्करका आश्रय छोड़कर मैदानमें आकर फुफकारो तो समझूँ। अथवा, एक बेर भगवान्‌की

* साखामृग—१७०४, १७२१, छं०, भा० दा०। साखामृगन—१७६२। साखामृगहि—कोदवराम।

† दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

शरण गये हुए सर्पको गरुड़ने खानेकी इच्छा की, तब विष्णुने सर्पको समर्थ बना दिया जिससे वह गरुड़जीको ही खाने दौड़ा, फिर प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उनको छुड़ाया।

टिप्पणी—२ इसी तरह जब श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीसे पूछा—'*कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥*' (५। ३३), तब उन्होंने उसका उत्तर भी इसी प्रकार प्रभुप्रतापका द्योतक दिया है, यथा—'*ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकहि खलु तूल॥*' (५। ३३)' जहाँ जैसा प्रयोजन पड़ा तहाँ तैसा उत्तर दिया; दोनों जगह प्रतापको मुख्य रखा। वहाँ लङ्का जलानेमें संदेह किया गया इसीसे वहाँ '*तूल*' (रूई) से बड़वानलका जलना कहा और यहाँ संदेह हुआ कि वानरोंको राक्षस भक्षण न कर डालें, इससे यहाँ कहा कि लघु सर्प गरुड़को खा सकता है। जलानेके प्रसङ्गमें जलानेका दृष्टान्त दिया और खानेमें खानेका।

नोट—१ (क) '*साखामृग*.....' इति। बल-बुद्धिकी हीनता दरसानेमें नरयुक्त वानर शब्दका प्रयोग न करके पशुत्व और चंचलता आदि सूचक शब्द शाखामृग दिया, यथा—'*कहँ हम पशु साखामृग चंचल, बात कहौं मैं विद्यमानकी।*' (गी० ५। ११); भाव यह कि एक डालीसे दूसरीपर कूदकर जाना बस मात्र इतना ही तो उसका पुरुषार्थ है; यथा—'*साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखापर जाई॥*' (ख)—'*नहिं बल बुद्धि*' इति। शत्रुको जीतनेके लिये बल और बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है; यथा—'*देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।*' (५। १७), '*बुद्धिबल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो॥*' (६। ९५) अतएव इन दोनोंकी कमी बतायी। (ग) '*बिसाल*' नहीं हैं अर्थात् थोड़ी-सी कूदने-फाँदने इत्यादिवाली बुद्धि और बल है। (घ) '*नहिं बल बुद्धि बिसाल*' ऐसा कथन कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। ☞ श्रीरामभक्त स्वयं समर्थ होते हुए भी जो कुछ कार्य करते हैं, उसमें श्रीरामप्रताप, श्रीरामकृपाहीको मुख्य मानते-जानते हैं। कभी उसमें अपने पुरुषार्थका अभिमान मनमें नहीं आने देते। इन शब्दोंसे अभिमानरहितत्व दिखाया। यथा—'*बोला बचन बिगत अभिमाना।*.....*सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥*' (५। ५३), '*तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।*' (१। २५३) शङ्करजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—'*बाँधा सेतु नील नल नागर।*.....*बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई॥ महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।*' (६। ३) और श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं ही। अतः दोनोंके सिद्धान्त एक ही हैं। पुनः अङ्गदपदारोपणप्रसङ्गमें भी इसी सिद्धान्तको उन्होंने पुष्ट किया है; यथा—'*तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥*' (६। ३५) श्रीभुशुण्डिजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—'*मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन।*' (७। १२२) (ङ)—'*नहिं बल बुद्धि*' से सर्वथा अपनी असमर्थता जनाकर '*प्रभुप्रताप ते*.....' इस उक्तिसे परम दुष्कर कार्यका भी श्रीरामसेवकोंद्वारा सुकर जनाया। (मा० त० सु०)

(च) बाबा हरिदासजी कहते हैं—बड़े बरगदके वृक्षमें बन्दरोंको भागनेका अवकाश कम होता है इसीसे शिकारी लोग चटपर भगाकर घेरकर पकड़ लेते हैं; बुद्धि होती तो उसपर क्यों जाते (एक मुट्ठी चनाके लिये घटमें हाथ डालकर पकड़े जाते है; समझते है कि घटने हमारे हाथको पकड़ लिया। इतनी भी बुद्धि नहीं कि मुट्ठी खोलकर हाथ निकाल लें।)

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥ १॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बलसे सानी हुई (संयुक्त, मिश्रित) कपिकी वाणी सुनते ही (श्रीसीताजीके) मनको संतोष (आनन्द) हुआ॥ १॥

टिप्पणी—१ '*मन संतोष सुनत कपि बानी*' इति। श्रीहनुमान्‌जीकी वाणी ऐसी श्रेष्ठ है कि श्रोता प्रसन्न हो जाता है—यह इस प्रसङ्गके चारों बारके उनके भाषणोंसे स्पष्ट है। उन्होंने (१) श्रीसीताजीको ऐसी कथा सुनायी कि '*लागी सुनै स्त्रवन मन लाई*' और वक्ताको उन्होंने प्रकट होनेकी आज्ञा दी।—'*स्त्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥*' (३। ७) (२) ऐसी बात की कि विश्वास हो

गया, यथा—'*कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।*' (३) ऐसा संदेश सुनाया कि प्रेममें मग्न हो गयीं, यथा—'*प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥*' और, (४) ऐसा धीरज देकर समझाया कि संतोष हो गया, यथा—'*मन संतोष सुनत कपि बानी।*'

मा० त० सु०—'*मन संतोष*' पहले केवल बाह्य प्रीति बढ़ी थी, अब भक्ति-प्रतापादि संयुक्त वाणी सुनकर आभ्यन्तरिक प्रसन्नता हुई।

टिप्पणी—२ '*भगति प्रताप तेज बल सानी*' के उदाहरण क्रमसे सुनिये।—(क) भक्ति, यथा—'*कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥ उर आनहु रघुपति प्रभुताई।*' (ख) प्रताप, यथा—'*राम बान रबि उएँ जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥*', '*प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल*'। (ग) तेज, यथा—'*निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥*' कृशानुसे तेज सूचित किया, यथा—'*तेज कृसानु रोष महिषेसा*'। (घ) बल, यथा—'*अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई*' से '*निसिचर मारि तोहि लैं जैहहिं*' तक।

शिला—दोहा १७ में हनुमान्‌जीने चार बातें कहीं।—जातिकी हीनता; यह दीनता भक्ति है। '*नहिं बल*' यह निर्बलताकथन प्रताप है। '*नहिं बुद्धि*' यह तेज है और '*रामप्रताप तें*……' यह बल है। श्रीजानकीजीने उनको यह सब देकर परिपूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—३ अब इस प्रसङ्गमें जो प्रश्नोत्तर हुए उन्हें दिखाते हैं—

श्रीसीताजीके प्रश्न	श्रीहनुमान्‌जीके उत्तर
१ *अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी।*	*मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।*
अनुज सहित सुखभवन खरारी॥	*तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥*
२ *कोमल चित कृपालु रघुराई।*	*जनि जननी मानहु जिय ऊना।*
कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥	*तुम्ह तें प्रेम राम के दूना॥*
३ *सहज बानि सेवक सुखदायक।*	*सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।*
कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥	*जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥*
४ *कबहुँ नयन मम सीतल ताता।*	*कछुक दिवस जननी धरु धीरा।*
होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥	*कपिन्ह सहित ऐहहिं रघुबीरा॥*
५ *बचन न आव नयन भरि बारी।*	*जौं रघुबीर होति सुधि पाई।*
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥	*करते नहिं बिलंब रघुराई॥*

६ '*सुनि मम बचन तजहु कदराई*' से '*मन संतोष सुनत कपि बानी*' तक हनुमान्‌जीके वचनोंकी सीमा है। यही '*बहु प्रकार*' समझाना है।

नोट—१ श्रीरामजीकी आज्ञा थी कि '*बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह*……।' समझाना सब है। बल ऊपर बताया गया। विरह '*कहेउ राम वियोग तव सीता*' से '*जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं।*' तक हुआ।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि 'इसीसे तो मेरी धारणा है कि तुलसीदासजी अपने ही बड़े सुन्दर आलोचक भी हैं। ऐसे कवि संसारमें बिरले ही होते हैं। प्रत्येक प्रसंग वा वक्तव्यपर पहले या पीछे ऐसी आलोचना होती है जिससे सब रहस्य खुल जाता है। यही कारण है कि जहाँ ब्रैड्ले महोदयको कहना पड़ता है कि शेक्सपियर हमें भूलभुलैयोंमें-सा डाल देता है, वहाँ तुलसीदासजी हमारे पथप्रदर्शक हैं। चरित्रोंपर उनके नोट (रामायणके प्रारम्भमें) अपना जवाब नहीं रखते। सारे आध्यात्मिक रहस्य श्रीरामनामवन्दना-प्रकरणमें खोल दिये हैं और मानस-सरयूवाला रूपक तो मानो सारे ग्रन्थकी धारावाहिक आलोचना ही है। आधिदैविक और दार्शनिक रहस्य 'बालको बाल' (आदि?) और 'उत्तरको अन्त' में समझाये गये हैं। तुलसीदासका रहस्यवाद—('*राम रहस्य मनोहर गाऊँ।*') रहस्यको सुबोध बनाता है; यह

नहीं कि श्री जी० पी० श्रीवास्तव्यजीके व्यंग शब्दोंमें यह कहना पड़े कि यदि समझमें आ जाय तो रहस्यवाद ही क्या? बरनार्डशा (Bernard Shaw) महोदयने सन् १९४७ ई० में लिखा है कि उनके प्रस्तावना और उपसंहार तथा बीचकी आलोचनाएँ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही होते हैं, कारण कि जनता (Pamphlet) आलोचनात्मक उपदेशपूर्ण पुस्तक भी नाटकके साथ पढ़ना चाहती है। सोचिये तो शा महोदयके वे अंश कितने रूखे-सूखे हैं और तुलसीदासजीके कितने काव्यकला और भावपूर्ण। जनताकी रुचि तो सभ्य देशमें वैसी होनी स्वाभाविक ही है।'

नोट-३—*'मन संतोष सुनत कपि बानी'* पायकुलक है *'भगति""'* नयमालिनी है। (ब्र० चं०)

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील* निधाना॥ २॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ† बहुत रघुनायक छोहू‡॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामजीका प्रिय जानकर उन्होंने आशीर्वाद दिया—हे तात! तुम बल और शीलके निधान (खानि, खजाना) होओ॥ २॥ हे पुत्र! तुम अजर (बुढ़ापारहित, सदा एकरस युवावस्थावाले), अमर (जिसकी मृत्यु न हो) और गुणोंके समुद्र वा खजाना होओ श्रीरघुनाथजी तुमपर बहुत कृपा करें॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'रामप्रिय जाना।'* जो श्रीरामजीका परम प्रियपात्र होता है उसीमें ये गुण होते हैं, दूसरेमें नहीं। इन गुणोंसे रामप्रिय जाना। रामप्रियपर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—*'राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो'*—(विनय०)। अतएव प्रसन्न हुईं, आशीर्वाद दिया। [पूर्व हनुमान्‌जीको हरिजन जाना था, यथा—*'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।'* और अब रामप्रिय जाना। अर्थात् केवल हरिजन नहीं किन्तु श्रीरामजीका 'निज दास' जाना। निज दास रामजीको प्रिय है; यथा—*'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥'* (७। ८६) इसीसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आशीर्वादपर आशीर्वाद देती चली गयीं।]

नोट—१ *'होहु तात बलसील निधाना'* इति। (क) महाभारतमें कहा है कि—'मन-कर्म-वचनसे किसीसे भी द्रोह न करे। सबपर दया करे। शक्तिके अनुसार दान दे। जिस तरह जिस कार्यके करनेसे मानव-समाजमें प्रशंसा हो वह कार्य उसी तरह करे।'—यही शीलका स्वरूप है। साधारण अर्थ 'सौम्य' वा 'सज्जनताका स्वभाव' है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी ये सब शीलके ही आधारपर रहते हैं। यदि शील नहीं है तो बल आदि व्यर्थ हो जाते हैं। इसीसे बलके साथ सील भी दिया। इसीसे 'धर्मरथ' प्रसङ्गमें शीलको दृढ़ पताका कहा है। पताका गिरनेपर हार होती है। पताका ही विजयका चिह्न है। (ख) बिना शीलके बलकी शोभा नहीं होती, यथा—*'रिपुसूदन पदकमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥'*; अतएव बल और शील दोनोंका आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—२ (क) हनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये इतने आशीर्वाद दिये। जबतक वे प्रसन्न न हुए तबतक आशीर्वाद देती ही गयीं। 'बलसीलनिधान हो', इसपर न बोले। 'अजर हो, अमर हो, गुणनिधान हो' इसपर भी उनकी प्रसन्नता न देख पड़ी। तब कहा कि *'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू'* यह सुन वे प्रसन्न हो गये। श्रीरघुनाथजीकी कृपाका आशीर्वाद सबसे पीछे दिया, क्योंकि जबतक कुछ भी वासना हृदयमें बाकी रहती है तबतक रघुनाथजीकी भक्ति नहीं मिलती, यथा—*'बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ॥'* (२। १०२) (ख) 'बहुत छोह' का भाव कि कृपा तो तुमपर है ही, यथा—*'आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना।'* अब हमारे आशीर्वादसे बहुत कृपा करें। पुनः ☞ यहाँ छः आशीर्वाद दिये हैं, क्योंकि हनुमान्‌जीने छः काम किये। एक-एक कार्यके बदले एक-एक आशीर्वाद दिया। छः काम ये हैं—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामचन्द्रजीके गुण वर्णन

* प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें 'सील' है। 'बुद्धि' आधुनिक।
† करहुँ—भा० दा०, रा० गु० द्वि०, गी० प्रे०। करहु—का०।
‡ 'आसिष"'''।' पायकुलक; 'होहु'''।' स्वागता; 'अजर''' पायकुलक और 'करहु बहुत''' चण्डी है। (ब्र० चं०)

किये, (३) कथा कही, (४) विश्वास उत्पन्न किया, (५) संदेश कहा और (६) धीरज दिया। आशीर्वाद भी छः हैं—बल, शील, अजर, अमर, गुणनिधि और रघुनायक बहुत छोह करें।

गौड़जी—हनुमान्‌जीके बुद्धि, बल, विनय, शील और सेवापर माताका हृदय रीझ गया, आशीर्वाद-पर-आशीर्वाद निकलने लगे, गिनतीकी कोई बात नहीं। पुत्रको माता जब अजर, अमर, बल, शील, गुणनिधान कर चुकी तब सिवाय इसके कोई और बात बाकी न रही कि उसपर 'सियाराम' का बहुत छोह हो। इसलिये हनुमान्‌जी कृतकृत्य हो गये। और लघु बालककी तरह माताके सामने भूखकी शिकायत करने लगे।

नोट—२ ***'सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।'*** एवं ***'करहुँ कृपा प्रभु'*** इति। (क) गौड़जी—रामचरितमानसमें जिस भाषाका प्रयोग हुआ है उसके व्याकरणके अनुसार ***'करहु'*** और ***'करहुँ'*** दोनों रूप होते हैं; परन्तु ***'करहुँ'*** स्वभाववाचक उत्तम पुरुष एकवचन वर्तमानकालके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है—***'मैं या हौं करहुँ'*** का अर्थ है 'मैं करता हूँ' या 'मैं करती हूँ' यहाँ ***'करहुँ'*** से दोनों प्रयोजन सधते हैं और अन्वय यों भी हो सकता है जिसमें दीपदेहरी अलङ्कारसे ***'करहुँ'*** का विवक्षित ***'हौं'*** के साथ भी सम्बन्ध है। ***'हौं करहुँ बहुत छोहू' 'करहुँ रघुनायक बहुत छोहू'*** (मैं स्वयं बहुत छोह करती हूँ, रघुनायक बहुत छोह करें)। इसी तरह ***'हौं करहुँ कृपा, 'करहुँ कृपा प्रभु'*** (मैं कृपा करती हूँ और प्रभु कृपा करें)। ('सीताराम' दोनोंकी कृपा कानोंसे सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो जाते हैं।)

महारानीजीने यहाँ ***'गुननिधि सुत होहू'*** कहकर हनुमान्‌जीके पुत्रत्वको स्वीकार कर लिया और अपनी कृपाके साथ-साथ रघुनायककी कृपाका भी आशीर्वाद दिया। माताके इसे स्वीकार कर लेनेपर और अमोघ आशीर्वाद पा लेनेपर हनुमान्‌जी निर्भर प्रेममें मग्न हो गये। श्रीरामकी कृपा तो निश्चित थी ही उसीसे तो मातातक पहुँचनेका श्रेय मिला था। यहाँ माताकी भी कृपा हो गयी और रघुनायकका बहुत छोह करना हर तरह सुनिश्चित हो गया।

(ख) ***'करहुँ'***=करें।—इस प्रकारका प्रयोग मानस द्वितीय सोपानमें बहुत आया है और विनय आदिमें भी। यथा—***'प्रान जाहुँ बरु बचन न जाहीं।'*** (२। २८), ***'जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥ जलद जनम भरि सुरति बिसारउ।'''।'*** (२। २८), ***'सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।'*** (२। २३०), ***'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम।'*** (२। २४८), ***'लखनु राम सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।'*** (२। २८२); ***'बसहुँ रामसिय मानस मोरे।'*** (विनय० १), ***'सुनि खल? छल-बल कोटि किये बस होहि न भगत उदार।'*** (विनय० १८८), ***'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहुँ जुबराजा॥'*** (२। २७३)

नोट—३ पं० रामकुमारजीके खर्रेसे ऐसा जान पड़ता है कि उन्हें ***'बलबुद्धि निधान'*** पाठ अधिक अच्छा लगता था। क्योंकि उन्होंने उस पाठके भी भाव दिये हैं, जो ये हैं—***'बलबुद्धि निधान'*** पाठ हो तो बलबुद्धिनिधान होनेका आशीर्वाद इसलिये दिया कि हनुमान्‌जीने कहा था कि—***'सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल'***, अतएव बल-बुद्धिका आशीर्वाद दिया। शत्रुबल और बुद्धिसे ही जीते जाते हैं। पुनः बल, बुद्धि आदिके क्रमका भाव—सीताजी शक्ति हैं, यथा—***'परम सक्ति समेत अवतरिहौं'***। इसीसे बल (शक्ति) दिया। बलकी शोभा बुद्धि है, वह भी शक्तिके देनेसे प्राप्त होती है यथा—***'जनकसुता जगजननि जानकी।'''जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।'*** बुद्धिकी शोभा अजर होनेमें है, बुढ़ापेमें बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—***'लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे'***। अजरकी शोभा अमरसे है। अजर-अमर होकर बैल-सरीखा बना रहे, गुण कुछ न हों तो शोभा नहीं; अतः 'गुण निधि हो' यह कहा। सर्वगुणसम्पन्न हो और प्रभुकी कृपा न हो तो सब गुण व्यर्थ हैं। गुणोंकी शोभा रघुनायक-छोह है, यथा—***'सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥ कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि, सील सरूप सलोने। तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥'*** (विनय० १७५); ***'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'*** (७। ८४) प्रभुकी कृपासे भक्ति मिलती है, अन्यथा नहीं, यथा—***'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति***

पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥'''देहु दया करि राम॥' (७। ८४) अतएव *'रघुनायक छोहू'* का वरदान पानेपर प्रसन्न हुए।

नोट—४ इस प्रसङ्गमें हमें उपदेश मिलता है कि श्रीरघुपति-कृपा-प्राप्तिके बिना अपनेको कभी कृतार्थ न समझें।

करहुँ* कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन† हनुमाना॥ ४॥
बार बार नाएसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा॥ ५॥‡

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानोंसे सुनकर श्रीहनुमान्‌जी पूर्ण प्रेममें डूब गये।卐॥ ४॥ कपि हनुमान्‌जीने बारंबार चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर वचन बोले॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस सुनि'* अर्थात् लौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेम न हुआ, अलौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेममें मग्न हुए। (ख) श्रीहनुमान्‌जीने संदेश सुनाकर श्रीसीताजीको प्रेममें डुबा दिया था; यथा—*'प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥'* इसके बदलेमें श्रीजानकीजीने आशीर्वाद देकर श्रीहनुमान्‌जीको प्रेममें डुबा दिया। (ग) *'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू'* ये श्रीसीताजीके वचन हैं; उसीको ग्रन्थकार यहाँ *'करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि'* लिखकर छोहका अर्थ स्पष्ट करते हैं। अर्थात् छोह=कृपा। (घ) श्रीहनुमान्‌जी बल, शील आदि अलौकिक आशीर्वादोंसे प्रसन्न न हुए; क्योंकि लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे जीव कृतार्थ नहीं होते; यथा—*'जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥ भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥'* (ङ)—*'निर्भर प्रेम मगन'''* ' इति। अर्थात् तन-मनकी सुध न रह गयी; यथा—*'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥'* (३। १०)—मं० श्लो० २ में 'निर्भर' के अर्थ देखिये।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीरामकृपाकी तो हृदयमें सदा ही इच्छा है पर उसकी पूर्ति करनेवाली सीताजी ही हैं, अतः उनके मुखसे उसका आशीर्वाद मिलनेसे प्रेममें मग्न हो गये। मा० त० सु० का मत है कि श्रीहनुमान्‌जीको संदेह था कि श्रीकिशोरीजी मुझे नहीं अपनायेंगी और इसीसे मैं अभी अपनेको श्रीरघुनाथजीकी कृपाका पूर्णाधिकारी नहीं समझता था, पर अब *'करहुँ कृपा प्रभु'* यह सुनकर वह सन्देह दूर हुआ। क्योंकि जबतक श्रीजनकनन्दिनीजी स्वीकार नहीं करतीं तबतक प्रभु दासको शरणमें नहीं रखते और न दास अपनेको उनकी कृपाका पूर्ण अधिकारी समझ सकता है।

टिप्पणी—२ *'बार बार नाएसि पद सीसा'* इति। चरणोंमें बार-बार मस्तक नवानेका कारण पूर्ण प्रेम (एवं कृतज्ञता) है; यथा—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (७। १२५), *'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥'* (१। ३३६), *'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा॥'* (३। ३४), *'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥'*

टिप्पणी—३ यहाँ तन, मन, वचन तीनोंसे कृतार्थ होना दिखाया, यथा—*'बार बार नाएसि पद सीसा'* यह तन *'निर्भर प्रेम मगन'''मुख बचन न आवा'* यह मन और *'बोला बचन जोरि कर कीसा'* यह वचन है।

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥ ६॥

अर्थ—हे माता! अब मैं कृतार्थ हो गया। आपका आशीर्वाद अमोघ है, यह सर्वत्र (निष्फल न होनेवाला) प्रसिद्ध है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'अब'* अर्थात् 'बल, शील, अजर, अमर, गुणनिधि' से मैं कृतकृत्य न हुआ, अब श्रीरामजीकी कृपाका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुआ। § (ख) 'विख्यात' का भाव कि आप आदिशक्ति

---

* करहु—का०। करहिं-आधुनिक। † हरख—कोदवराम। ‡ 'करहुँ कृपा''''' अर्धाली ४ से ७ तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)। 卐 अर्थान्तर—'प्रेममें मग्न हो निर्भर हो गये अर्थात् अपने देहकी सुध भूल गये। 'निर्गतः भरो देहस्वभावो यस्य असौ निर्भरः।'

§ यथा—'काम-से रूप, प्रताप दिनेसु-से, सोम-से सील, गनेसु-से माने। हरिचंदु-से साँचे, बड़े बिधि-से,

हैं। आदिशक्तिका आशीर्वाद वेदोंमें विख्यात है। अमोघ है; अतएव अब अवश्य प्रभु मुझपर कृपा करेंगे। मैं किसी भी साधनसे इस कृपाको न प्राप्त कर सकता और न कृतार्थ होता पर आपकी कृपासे दोनों बातें होंगी, यथा—*'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'*

नोट—१ इसी प्रकार श्रीभरतजी कातर हो रहे थे कि प्रभु मेरा त्याग तो न कर देंगे, यथा—*'करत कुतर्क कोटि मन माहीं। राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥'''''* (२। २३३) पर जब चित्रकूटमें पहुँचनेपर श्रीसीताजीको प्रणाम करनेपर उन्होंने *'सिर कर कमल परसि बैठाए। सीय असीस दीन्हि मन माहीं।'''''* तब *'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥'* (२। २४२) अर्थात् श्रीसीताजीकी अनुकूलतासे उन्हें विश्वास हो गया कि श्रीरघुनाथजी अब अवश्य अपना लेंगे।—इससे श्रीसीताजीका पुरुषकारत्व सिद्ध है। वैष्णवाचार्योंका यही सिद्धान्त भी है।

टिप्पणी—२ ***'अमोघ'*** शब्द पाँच बार आया है। उसमेंसे तीन बार इसी काण्डमें। आदिमें श्रीरामबाणको अमोघ कहा, यथा—*'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना'*, मध्यमें श्रीसीताजीके आशीर्वादको अमोघ कहा और अन्तमें श्रीरघुनाथजीके दर्शनको अमोघ कहा। यथा—*'मोर दरस अमोघ जग माहीं।'* (४९। ९) श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरामजीका दर्शन किष्किन्धामें हुआ, उसका फलस्वरूप श्रीसीताजीका आशीर्वाद मिला। इस आशीर्वादका फल आगे मिला है—*'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा।'''''कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥'* (३३। २, ४), *'''''नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥'''''एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥'* (३४। १-२)

'पुनि सीतहि धीरज जिमि दीन्हा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'बन उजारि रावनहि प्रबोधी'—प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुन्दर फल रूखा॥ ७॥
सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी*॥ ८॥

अर्थ—हे माता! सुनिये। सुन्दर वृक्षोंमें सुन्दर फल लगे हुए देखकर (वा, सुंदर फलों और वृक्षोंको देखकर मुझे अतिशय भूख लग आयी है (अर्थात् भाँति-भाँतिके मेवोंसे लदे हुए वृक्ष देखे, इससे भूख हो आयी, न देखता तो भूखकी सुध भी न आती)॥ ७॥ (श्रीसीताजी बोलीं) हे पुत्र! परम सुभट भारी-भारी निशिचर वनकी रखवाली कर रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'भूख लागि'* इति। स्वयंप्रभाके स्थानमें फल खाये थे। समुद्र-तटपर पहुँचे तब अनशन किया। उस समयसे अबतक फल खानेको न मिले, अब देखा तो याद आ गयी कि हमने उस दिनसे कुछ भी भोजन नहीं किया और भूख भी पीड़ित करने लगी, यथा—*'चितइ मातु लागी अति भूखा।'* (ख)—फल तो सिन्धु तटपर भी देखे थे, यथा—*'नाना तरु फल फूल सुहाये।'*, पर वहाँ भूख न लगी, क्योंकि रामकाजमें मन लवलीन था, भूखकी सुधि भी न थी और बिना रामकार्य किये विश्राम भी नहीं चाहते थे, यथा—*'रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ बिश्राम।'*, जब रामकार्य बिना किये बैठनेका भी अवकाश नहीं था तब फल खानेका अवकाश कैसे हो सकता? वाल्मीकीयसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीने प्रतिज्ञा की थी कि जबतक श्रीजानकीजीका दर्शन न कर लूँगा, जल भी ग्रहण न करूँगा। [यथा—**'त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥'** (५। १। १३१) ये वचन मैनाकसे उन्होंने कहे हैं। अर्थात् एक तो मुझे कार्य करनेकी त्वरा है, दूसरे समय भी बहुत बीत चुका है और तीसरे मैंने वानरोंसे प्रतिज्ञा भी की है कि मैं बीचमें कहीं भी विश्राम न करूँगा।] इसीसे अबतक भूखकी खबर भी न थी। अब

मघवा-से महीप, विषै-सुख-साने॥ सुक-से मुनि, सारद-से बकता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने। ऐसे भए तौ कहा 'तुलसी' जो पै राजिवलोचन रामु न जाने॥' (क० उ० ४३)

* धारी''''कोदवराम। 'सुनहु'''''रखवारी। पायकुलक है और 'परम सुभट''''।' चण्डी है। (ब्र० चं०)

श्रीसीताजीके दर्शन हो गये, उनको मुद्रिका दे दी गयी, प्रभुका सन्देश सुना दिया गया, श्रीरामजीने जो कहा था कि—*बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह*""॥' (४। २३), वह सब कार्य सिद्ध हो गया—यह जानकर कृतकृत्य हुए तब भूखकी सुध हुई।

नोट—१ वाल्मीकीयकल्पवाली कथामें श्रीहनुमान्‌जी यहींपर श्रीसीताजीसे चूड़ामणि लेकर विदा होकर चल दिये हैं? उसके पश्चात् उनके विचार हैं कि अभी शत्रुके बलका अटकल लेना यह कार्य बाकी है। अटकल बिना सम्मुख युद्धके नहीं हो सकता। मेघनादसे भी अधिक रावणको प्रिय जो अशोकवन है उसके नाशसे ही शत्रुका सामना हो सकता है; अतः वे वनमें घुसकर उसे उजाड़ने लगे। यथा—'**अल्पशेषमिदं कार्यं**""॥' '**परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्**""॥', '**कथं नु खल्वद्य भवेत् सुखागतं प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह**""॥' '**इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः। अस्मिन्भग्ने ततः कोपं करिष्यति सरावणः॥**' (वाल्मी० ५। ४१। २, ७, ८, ११) कवितावलीमें कहा है कि अशोकतले बैठी हुई श्रीसीताजीकी दशा देखकर वह 'अशोक' नहीं, किंतु शोकसार ही जान पड़ा, इससे उन्होंने उसको वैसा ही अर्थात् शोकवन बना दिया। यथा—'*सीयकी दसा बिलोकि बिटप असोक तर, 'तुलसी' बिलोक्यो सो तिलोक-सोम-सारु सो।' 'मेघनाद; तें दुलारो, प्रान तें पियारो बागु, अति अनुरागु जियँ जातुधान धीर कें॥ 'तुलसी' सो जानि-सुनि, सीयको दरसु पाइ, पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीर कें।*""॥' (५। १, २) पुनः गीतावलीमें भी संकेत है। मुद्रिकाने जो सन्देश दिया है, उसीमें कहा है कि—'*देखि दुर्ग, बिसेषि जानकि, जानि रिपु-गति आउ॥*' (५। ४) अर्थात् हमारा कुशल सुनाकर धैर्य देकर फिर किलोंको देखना और शत्रुकी थाह लेकर आ जाओ।

इन उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अशोकवनके विध्वंसद्वारा रिपुसैन्यमर्दन तथा रावणदर्पभंजन एवं शत्रुबल-परीक्षाकी बात कुछ पूर्वसे ही थी। मानसकल्पमें '*अतिशय भूखको*' निमित्त करके उसकी पूर्ति चाही है। माता बालकको भूखा देख नहीं सकती, फिर अतिशय भूख सुन आतुर हो क्यों न तुरत आज्ञा देगी। अतएव अतिशय भूख जताते हुए आज्ञा माँगते हैं। आज्ञा होनेसे मनोरथ निर्विघ्न सफल होगा।—इस तरह यहाँ 'पर्यायोक्ति अलङ्कार' का 'द्वितीय भेद' है। फललदे वृक्षोंको देखकर भूख लग आनेमें दूसरा 'सम अलङ्कार' है। मा० त० सु० का मत है कि युद्धादि कार्य करनेमें आज्ञा विरुद्ध होनेके भयसे श्रीकिशोरीजीकी आज्ञा ले बागमें जाना चाहा। परंतु वाल्मीकीयमें इस कार्यको 'अविरुद्ध' कहा है और रामकार्य ही माना है। मं० अ० दीपककारका मत है कि 'वृक्षों और फलोंको देखकर' का भाव ही यह है कि वृक्षोंको तोड़नेकी इच्छा हो रही है और फलोंको खानेकी। इससे वृक्षोंको तोड़ने और फलोंको खाने दोनोंकी आज्ञा माँगी गयी और मिली। अतएव उन्होंने दोनों कार्य किये—'**फल खाएसि तरु तौरै लागा।**'

टिप्पणी—२ '*देखि सुंदर फल*""' इति। (क) '*देखि*' से पाया गया कि अब सबेरा हो गया, वृक्षोंके फल दिखायी देने लगे। इस पदसे काल सूचित किया। (ख) वानरोंका स्वभाव है कि उन्हें वृक्षोंमें लगे हुए फलोंके खानेकी अधिक इच्छा रहती है, गिरे-पड़े फलोंमें उतनी रुचि नहीं होती।

नोट—२ '*सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी।*""' इति (क) '*करहिं रखवारी*' से जनाया कि उस प्रिय वनकी रक्षामें राक्षस सुभट सदा सन्नद्ध रहते थे। यथा—'*रहे तहाँ बहु भट रखवारे।*' (ख) '*परम सुभट*' से युद्धमें उनकी परम निपुणता जनायी। '*भारी*' से परम विकरालस्वरूप, भयंकर दर्शन जनाया।

टिप्पणी—३ शंका—श्रीसीताजीको हनुमान्‌जीने अपना रूप दिखाकर बलका विश्वास करा दिया था, तब उन्हें क्यों फिर सन्देह हुआ जो उन्होंने ऐसा कहा कि '*करहिं बिपिन रखवारी*""?' समाधान—यद्यपि रूप देखकर भरोसा हो गया था तथापि वात्सल्यभावसे (सुनु सुत!) छोह करके भयकी जगह जानेकी आज्ञा नहीं देतीं; यथा—'*हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥ अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥*' (७। ७। ७-८) अर्थात् वात्सल्यमें विचार करती हैं कि इसको राक्षसोंका भय न प्राप्त हो जाय। जैसे माताको संदेह हुआ कि मेरे रामलक्ष्मणने रावणको कैसे मारा।

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं*॥ ९॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले) हे माता! मुझे उनका भय नहीं है, यदि आप मनमें सुख मानें (अर्थात् यदि आप सुख न मानें तब सर्वभय है)॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'मोहि नाहीं'* से जनाया कि मुझसे उनको भय होगा, उनसे मुझे नहीं हो सकता। क्योंकि *'समर भयंकर अति बल बीरा'* यह रूप श्रीसीताजीको दिखा चुके हैं और वचनोंसे कह चुके हैं कि *'प्रभुप्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'* (ख) *'तिन्हकर भय'* इति। *'जौं तुम्ह·····'* के सम्बन्धसे इसका भाव यह भी है कि उनका तो नहीं है पर एकमात्र आपका भय है कि आप दुःख न मानें क्योंकि वानर-स्वभावसे फल खानेसे वृक्ष अवश्य टूटेंगे, जिससे रखवाले अवश्य मेरे फल खानेमें विघ्न डालेंगे, तब मैं अवश्य ही उन्हें मारूँगा। आप यह मनमें न लावें कि यह फल खाने गया और उत्पात करने लगा और यह कि वनके विध्वंस होनेसे अब रावण और राक्षसियाँ और अधिक दुःख देंगी। अथवा, यह दुःख न मानें कि हमारी आज्ञा नहीं मानता, इसीका भय है।

टिप्पणी—२ *'जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं'* इति। (क) इसमें ध्वनि यह है कि यदि आप किसी प्रकारका भी दुःख मानें तो मैं अतिशय क्षुधातुर होते हुए भी फल न खाऊँगा, क्योंकि *'जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥'* (२। २६८) पुनः 'सुख मानहु' अर्थात् यदि आप हृदयसे सुख मानें और आज्ञा दें तो मैं वनमें जाऊँ और मन-माने फल खाऊँ। ☞ हनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं, स्वामीकी प्रसन्नता जिसमें हो वही काम करना चाहते हैं। (ख) *'मन माहीं'* का भाव कि मेरी खातिरीके लिये ऊपरसे न कहियेगा, अन्तःकरणसे प्रसन्न होकर यदि आप आज्ञा दें तो मैं खाऊँ।

टिप्पणी—३—श्रीजानकीजीने पहले जब राक्षसोंको बड़ा कहा था, यथा—*'जातुधान भट अति बलवाना'*, तब हनुमान्‌जीने अपना रूप दिखाकर संदेह दूर किया था; क्योंकि तब वचनमात्रसे कहनेसे संदेह दूर न होता। और यहाँ जब पुनः उन्होंने राक्षसोंको बड़ा कहा, यथा—*'परम सुभट रजनीचर भारी'*, तब वचनमात्रसे उनका संदेह दूर कर दिया कि *'तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं'*; क्योंकि अब कहनेसे ही पूर्व रूपका स्मरणकर संदेह दूर हो जायगा।

दो०—देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।
रघुपतिचरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु†॥ १७॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीको बुद्धि और बलमें निपुण देखकर जानकीजीने कहा कि जाओ। हे तात! रघुनाथजीके चरणोंको हृदयमें धारण करके मधुर फल खाओ॥ १७॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि बुद्धि बल निपुन'* का भाव कि जो आशीर्वाद दिया था उसको यहाँ चरितार्थ देख लिया। *'तिन्ह कर भय नाहीं'* यह बल है और *'जो तुम्ह सुख मानहु'* यह बुद्धि है। (ख) बुद्धि-बलमें निपुण देखकर तब जानेकी आज्ञा दी। क्योंकि जबतक बल और बुद्धि दोनों न हों तबतक शत्रुके समीप जाना उचित नहीं। शत्रुको पराजय करनेके लिये इन दोनोंकी आवश्यकता होती है। यथा—*'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों॥'* (६। ६)—दोहा १६ भी देखिये। समयोचित कर्तव्य बिना बुद्धिके नहीं जाना जा सकता। माताके वचनोंका उत्तर किस खूबीसे दिया—*'जौं तुम्ह सुख मानहु'*—कि माताने तुरत आज्ञा दे ही तो दी।—[*'कहेउ जानकी जाहु'*—*'जाहु'* कहकर जनाया कि तुम जो कुछ भी करोगे वह उचित ही होगा और उससे मुझे सुख ही होगा। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२—*'रघुपतिचरन हृदय धरि.....'* इति। (क)—*'रघुपति'*=रघुकुलके स्वामी श्रीरघुनाथजी। वनमें

---

* यह पायकुलक है। (ब्र० चं०)

† दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

भेजते हुए **'रघुपति'** शब्दका प्रयोग साभिप्राय किया गया है। रघु=जीव। पति=रक्षक। **पा रक्षणे 'पा'** धातु रक्षार्थक है। ये जीवमात्रके रक्षक हैं; अतः इनके चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे ये अवश्य तुम्हारी भी रक्षा करेंगे।

नोट—१ श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके कोई भी कार्य करना यह भगवद्भक्तोंकी भक्तिका एक लक्षण है। तभी तो प्रभु सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते हैं। इसी विचारसे किष्किन्धासे प्रस्थानके समयसे लेकर यहाँतक बारम्बार प्रभुका हृदयमें धारण करना दिखाया गया है। यथा—***'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥'*** (४। २३), ***'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा।'*** (५। १), ***'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।'*** (५। ४), ***'पैठा नगर सुमिरि भगवाना।'*** (५। ५) तथा यहाँ ***'रघुपति चरन हृदय धरि'।*** प्रत्येक बार पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं—कृपानिधान, रघुनाथ, नरहरि, भगवान् और रघुपति। ये सब साभिप्राय हैं। इनके भाव दिये जा चुके हैं। चरणोंका धारण करना अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—***'रामचरन पंकज उर धरहू।'*** (६। १) (जाम्बवान्‌ने सेतुबन्धन-समय कहा), ***'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले'''''॥'*** (६। १८), ***'रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचलु राजु तुम्ह करहू॥'*** (५। २३), ***'चरन नलिन उर धरि गृह आवा।'*** (७। २०)—इस तरह यह हम सबोंके लिये उपदेश है। (ग) ☞ जहाँ रारकी सम्भावना होती है वहाँ **'चरण'** के साथ **'पंकज'** आदि कोमलतासूचक विशेषण नहीं दिये जाते। अतः यहाँ भी केवल **'चरन'** कहा।

नोट—२—***'तात मधुर फल खाहु'*** इति। (क) हनुमान्‌जीने **'मातु'** सम्बोधनकर अतिशय भूखा होना कहा था, उसके सम्बन्धसे **'तात'** सम्बोधन बहुत उपयुक्त हुआ। यह प्यार-सूचक सम्बोधन है। (ख) ***'मधुर फल खाहु'।*** माताको सदा यही इच्छा रहती है कि पुत्रको मधुर-मधुर पदार्थ खिलावे; यथा—***'तात जाहुँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥'*** (२। ५३) अथवा, वानर मधुर ही फल खाते है, यथा—***'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाए।'*** (४। २५), ***'खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं।'*** (६। ५); अतएव ***'मधुर फल खाहु'*** कहा। (पं० रा० कु०)

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। फल खाएसि तरु तोरै लागा*॥ १॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीको) मस्तक नवा (प्रणाम) कर चले और बागमें प्रवेश किया, फल खाये और वृक्षोंको तोड़ने लगे॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) ***'नाइ सिरु'*** इति। श्रीरघुपतिचरणोंको हृदयमें धारण किया और श्रीजानकीजीके चरणोंमें सिर नवाया। इस प्रकार भीतर-बाहर दोनोंसे रक्षित हुए, क्योंकि यहाँ युद्धका मङ्गलाचरण है। (ख) ***'चलेउ'*** अर्थात् धीरे-धीरे गये। कूदते-फाँदते नहीं; जिसमें अभी कोई जाने नहीं। पहले पेटभर फल खा लें तब लोग जानें, नहीं तो फल खाते ही युद्ध होने लगेगा, खा न सकेंगे। (ग) ***'पैठेउ बागा। फल खाएसि',*** से जनाया कि बागमें जाते भी किसीने न देखा और न फल खाते ही जाना। जब वृक्ष तोड़ने लगे तब रक्षकोंने जाना।

मा० त० सु०—***'पैठेउ'*** अर्थात् कूदकर मध्यमें प्रवेश किया। पुनः, पहले चुपचाप पैठे थे, अब श्रीरघुनाथजीका जयजयकार करते हुए पैठे, यथा—***'पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीर को'***—(क)। पुनः, पहिले महारानीजीके दर्शनार्थ पैठे थे, अब राक्षस-बल-परीक्षार्थ और रावण मानभंजनार्थ पैठे।

टिप्पणी—२ शंका—बागमें तो हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके समीप बैठे ही थे, अब यह कौन बाग है जिसमें पैठना कहते हैं? समाधान—अभीतक हनुमान्‌जी अशोकके उपवनमें थे जहाँ श्रीसीताजी बैठी हुई थीं। यथा—***'तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई॥'*** (४। २८) और अब उन्होंने बागमें प्रवेश किया जहाँ फलोंसे लदे हुए वृक्ष थे; क्योंकि इन्हें प्रथम फल ही तो खाना है। पूर्व ***'बन असोक सीता रह जहवाँ।'*** (५। ८। ६) में बताया गया है कि इसमें चार भाग हैं, पर चारोंमें 'अशोक' ही मुख्य है; इसीसे अशोकवाटिका, अशोकउपवन, अशोकबाग और अशोकवन सब एक ही कहलाते हैं।

* 'चलेउ''''''।' द्रुतपा। 'फल खाएसि''''''' से ८ तक पायकुलक।

यह बड़ा ही अनुपम अद्भुत बाग है, इसकी जोड़का दूसरा नहीं है। इसके भीतर पृथक्-पृथक् वन, बाग उपवन और वाटिका चारों ही हैं।

टिप्पणी—३ *'तरु तोरै लागा'* इति। (क) यह वानरोंका स्वभाव है, यथा—*'कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा'* (२२। ३) अथवा, (ख) श्रीसीताजीको अशोक वृक्षके तले बहुत शोकमें देखा था, इसलिये अशोक विटप उखाड़े, यथा—*'सीयकी दसा बिलोकि बिटप असोक तर, 'तुलसी' बिलोक्यो सो तिलोक-सोक-सारु सो।'* (क० ५। १); अथवा, (ग) रावणने श्रीसीताजीको बड़ा दुःख दिया। अतएव अशोकवाटिका उजाड़ी। जिसमें रावणको सुनकर बहुत दुःख हो। यह बाग रावणको प्राणप्रिय था; यथा—*'मेघनाद तें दुलारो प्रानतें पियारो बागु, अति अनुरागु जियँ जातुधान धीरकें।'* (क० ५। २); अथवा; (घ) ये पवनपुत्र हैं, इन्होंने अपने पिता पवनदेवको बागकी रक्षामें अति कष्ट देखा, यथा—*'समय पुराने पात परत, डरत बातु, पालत लालत रति-मारको बिहारु सो।'* (क० ५। १) अथवा, (ङ) श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि जिसका फल खाया, उसको कुछ फल देकर उसका उपकार करना उचित है। अतएव उनको चौरासी योनिसे छुटकारा देनेके लिये उनको उखाड़ा। अथवा, (च)—इन्होंने विचारा कि रावणके पास चलकर कुछ बातचीत करनी चाहिये। सामसे यह कार्य न होगा, क्योंकि राक्षस प्रीति नहीं जानते। दामसे भी काम न चलेगा क्योंकि उनको द्रव्यकी कमी कहाँ। भेदसे भी काम न होगा क्योंकि बलवान् हैं। बलवान्से भेद, उपायसे काम नहीं चल सकता; यथा—*'भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥'* रहा भय वा दण्ड। इससे काम चलेगा। हम जब कोई भारी कसूर (अपराध) करें तब सब उसको खबर देंगे, हमको वहाँ बाँधकर ले चलेंगे। अतएव *'तरु तोरै लागा।'*—विशेष १७ (७), १८ (२—४) देखिये।

रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे* कछु जाइ पुकारे॥ २॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोकबाटिका उजारी॥ ३॥
खाएसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥ ४॥

अर्थ—वहाँ बहुत योद्धा रक्षक थे उनमेंसे कुछको तो उन्होंने मार डाला और कुछने रावणसे जाकर पुकार की॥ २॥ 'हे नाथ! एक भारी वानर आया है। उसने अशोकवाटिका उजाड़ डाली॥ ३॥ फल खाये और वृक्ष उखाड़े और रक्षकोंको मसल-मसल करके पृथ्वीपर डाल दिये॥ ४॥'

टिप्पणी—१ (क) *'भट रखवारे'* का भाव कि उन्होंने बागकी रक्षाके लिये युद्ध किया। रक्षक थे, अतः रक्षा की। यह बाग रावणको प्राणप्रिय था और यहीं श्रीजानकीजी भी हैं; अतएव यहाँ 'बहुत भट' रक्षाके लिये थे, जिसमें कोई उनके समीप जा न सके। (ख) भट तो बहुत-से थे, उनमेंसे कुछ मारे गये और *'कछु जाइ पुकारे'* तो बाकी सब क्या हुए? जो बाकी रहे उनमेंसे कुछ या सब हनुमान्‌जीके सामने हैं। इसी तरह जब अक्षयकुमार अपार सुभटोंको लेकर आया तब उनमेंसे कुछ मारे, कुछ मसले गये और कुछ धूलिमें मिला दिये गये। कुछका ही फिर रावणके पास जाना कहा है। यथा—*'चला संग लै सुभट अपारा।'''''''''कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि। कछु पुनि जाइ पुकारे'''''''''।'* (१८) [इससे जान पड़ता है कि जो सामने आ गये वे मार डाले गये और जो प्रधान-प्रधान योद्धाओंको मारे गये देख डरकर प्राण बचाकर भाग गये उनमेंसे कुछने रावणको जाकर खबर दी। सम्भव है कि मैदानमें कुछ योद्धा अभी रहे हों, जब रावणको सूचना दी गयी। और यह भी हो सकता है कि अब वहाँ कोई नहीं रह गये। वाल्मीकिजीके मतसे तो अशोकवाटिकामें केवल राक्षसियाँ थीं और उन्होंने रावणको उसके विध्वंसकी खबर दी तब रावणने अस्सी हजार 'किंकर' नामक योद्धा भेजे थे। हनुमान्‌जीने सबको मार डाला, केवल कुछ भागकर बचे थे। उन्हींने जाकर खबर दी। वहाँ कोई न रह गया तब हनुमान्‌जी आगे फिर

* मारेसि—१७०४, गी० प्रे०।

भी युद्धकी इच्छासे तोरणपर जा बैठे थे। यथा—'**युद्धाकांक्षी महावीरस्तोरणं समवस्थितः॥**' (५। ४२। ४२) ऐसा ही यहाँ भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि प्रधानोंने ही कुछको समाचार देनेके लिये भेज दिया हो जब उन्होंने देखा हो कि हमलोग वानरसे पार न पायँगे। पुनः '***कछु मारेसि कछु***..........' का भाव कि वहाँ थे तो बहुत भट परंतु श्रीहनुमान्‌जीकी दृष्टिमें वे कुछ ही थे।] (ग) कुछको कैसे मारा?—यह आगे खबर देनेवाले स्वयं कहते हैं—'***रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।***'

टिप्पणी—२ '***नाथ एक आवा कपि भारी***' इति। (क) ['***नाथ***' का एक अर्थ 'स्वामिन्!' तो है ही तथापि यह 'उपताप' अर्थ भी सूचित करता है। यथा पाणिनि—'**नाथनाधृयाञ्चोपतापैश्वर्येषु**'। भाव कि बड़े शोककी बात है। (मा० त० सु०) पुनः, भाव कि उसने हम सबोंको अनाथकी तरह मारा है। '***एक आवा***' का भाव कि अकेला ही है, उस अकेलेने ही समस्त रक्षकोंको मार डाला, उसे ऐसा-वैसा साधारण न समझिये। (ख) '***कपि भारी***' इति। इससे वानरका विकराल पर्वताकार रूप और अमित पराक्रम-बलशील एवं तेजस्वी होना जनाया। यथा—**गिरिसङ्काशमतिकायं महाबलम्**', '**विरूपं वानरं भीमम्**' (वाल्मी० ५। ४२। ५,१२) इससे जनाया कि बागमें प्रवेश करनेपर श्रीहनुमान्‌जीने विशाल रूप धारण कर लिया था; क्योंकि हजारों वृक्षोंके फल खाना, वृक्षोंको उखाड़ना और युद्ध करना छोटे वानरका काम नहीं है, यह बड़े ही रूपसे सम्भव है। आगे '***भारी***' का स्वरूप दिखाते हैं कि—'***तेहि***..........'। (ख) '***असोक बाटिका उजारी***' इति। रावणके बाग-वाटिकाएँ आदि बहुत हैं अतएव जिसको उजाड़ा उसका नाम बताया जिसमें उसे फिर प्रश्न न करना पड़े।] 'अशोकवाटिका' कहकर यह भी जनाया कि जो नन्दनकाननसे भी उत्तम था; इन्द्र, वरुण एवं ब्रह्माजीके भी वनोंसे अधिक सुहावना था, जो रावणका प्राणप्रिय था, उसीको उजाड़ डाला; यथा '***बासव-बरुन-बिधि-बनतें सुहावनो, दसाननको काननु बसंतको सिंगारु सो। समय पुराने पात परत, डरत बातु, पालत लालत रति-मारको बिहारु सो॥ देखे बर बापिका तड़ाग बागको बनाउ, रागबस भो बिरागी पवनकुमारु सो॥***' (क० ५। १); ऐसे अशोक वनको उजाड़ डाला। नाम इससे प्रथम ही कह दिया कि जिसमें रावणको अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हो जाय और वह उद्दण्ड वानरको दण्ड देनेके लिये तुरत भारी भट भेजे। पुनः '***असोकबाटिका उजारी***' में ध्वनि यह भी है कि उसने 'अशोक' उजाड़ डाला और आपके लिये 'शोकवाटिका' लगा दी, शोक बसा दिया यथा—'**सा विह्वलाशोकलताप्रताना वनस्थली शोकलताप्रताना। जाता दशास्यप्रमदावनस्य कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य॥**' (वाल्मी० ५। ४१। २०) अर्थात् अशोककी विशाल लताओंके मुरझानेसे वह वनस्थली मदयुक्त रावणकी स्त्रियोंके लिये शोककी विस्तृत लता बन गयी।

टिप्पणी—३ '***खाएसि फल अरु बिटप उपारे।***..........' इति। (क) यह '***कपि भारी***' का स्वरूप दिखाते हैं कि जो हजारों वानरोंके खानेसे भी न चुक सकते थे, वह सब फल इस एकने ही खा डाले; सभी वृक्ष उखाड़ डाले और रक्षकोंको हाथसे ही मसल-मसलकर पृथ्वीपर डाल दिया। युद्धके लिये हाथमें एक वृक्ष भी न लिया। (ख) '***महि डारे***' कहकर जनाया कि इन भटोंको उसने कुछ भी न समझा तभी तो उनको अपने अन्य अङ्गोंसे मर्दन करने योग्य न जानकर हाथसे ही मसलकर डाल दिया। आगे रावणने जब महाभट भेजे तब उनके मर्दन करनेमें अङ्गोंसे काम लिया है; यथा—'***रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा॥***' (१९। ६) (ग) '***मर्दि-मर्दि***' का भाव कि बड़ा फुर्तीला है, जरा-सी देरमें इतने रक्षकोंको मसल डाला, किंचित् भी परिश्रम न हुआ, रक्षक पास आया नहीं कि मार डाला गया।

शंका—हनुमान्‌जीने तो वृक्षोंको तोड़ा और राक्षसोंने कहा कि '***बिटप उपारे***' अर्थात् उखाड़े; यह क्यों? समाधान—पहले हनुमान्‌जीको क्रोध न था, वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़ने लगे। जब रक्षक लड़नेको सामने आये तब वे क्रोधसे वृक्षोंको उखाड़ने लगे। कहनेवालेने उखाड़ते देखा, अतः उखाड़ना कहा।

शंका—वनका उखाड़ना तो फल खानेसे ही सिद्ध हो गया, यथा—'***जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज***', तब फल खाना और विटप उखाड़ना दोनों क्यों कहा? समाधान—दोनों न कहता तो समझा

जाता कि केवल फल खाये हैं, वृक्ष सब हैं। अतः दोनोंको कहा।

प० प० प्र०—*'नाथ! एक आवा!! कपि। भारी!!!'* ऐसा पदच्छेद करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि समाचार देनेवाले भयग्रस्त हैं, हाँफते-हाँफते आये हैं, ऊर्ध्व साँस ले-लेकर बोलते हैं। मानस नाट्य काव्य है। हर एक उद्‌गारके पीछे रावणने कुछ टेढ़े वचन सुनाये होंगे जिनकी कल्पना रावणके स्वभावानुसार पाठक कर सकते हैं।

नोट—१ अशोकवाटिका क्यों उजाड़ी गयी इसका कारण वाल्मी० स० ४१ में यों लिखा है कि हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके पाससे चलकर विचार करने लगे कि मैंने श्रीसीताजीका दर्शन पाया, संदेश सुनाया, धीरज दिया, यह सब कार्य हुआ, अब थोड़ा-सा बाकी रहा अर्थात् शत्रुके बलका अटकल लेना। इस कार्यमें साम, दाम, भेदसे काम न चलेगा। दण्ड ही उचित उपाय जान पड़ता है। मेरे हाथों वीर जब मारे जायँगे तब चाहे शत्रु नर्म पड़े। प्रधान कार्य करके जो सेवक उसके अविरोधी और भी कार्य करता है वही यथार्थ कार्यकर्त्ता है। यदि मैं यहींसे शत्रुविनाशके सम्बन्धमें पूरी जानकारी और उपाय निश्चित करके जाऊँ तो स्वामीकी आज्ञाका यथार्थ पालन होगा। तभी मेरा आना सफल होगा। राक्षसोंसे मेरा युद्ध कैसे हो! रावण अपने बलके साथ मेरे बलको कैसे तौल सकेगा! युद्धसे रावण, उसके मन्त्री और उसकी सेनाके बल, बुद्धि और आन्तरिक अभिप्राय सबका पता लग जायगा। यह वन रावणको प्राणप्रिय है, इसके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर वह कुपित होकर सेना लेकर आवेगा तब मैं सबको मारकर किष्किन्धा लौट जाऊँगा। यह सोचकर पवनके समान कुपित होकर पवनसुत वनको विनष्ट करने लगे। दोहा १७ (७-८)भी देखिये।

सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥ ५॥
सब रजनीचर कपि संघारे। गए पुकारत कछु अधमारे॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर रावणने अनेक योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमान्‌जीने गर्जना की॥ ५॥ कपिने सब निशिचरोंको मार डाला, कुछ जो अधमरे थे वे पुकार करते हुए गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) रक्षकोंने कहा था कि *'भारी'* कपि है, इसीसे *'नाना भट'* भेजे, नहीं तो साधारण जानकर कोई साधारण वीर भेजा जाता। *'भट नाना'* इति।—['नाना' शब्दसे बहुत और अनेक प्रकारके (अर्थात् विविध प्रकारकी युद्ध-कलामें कुशल) दोनों भाव सूचित किये। *'भट नाना'*—पदसे यहाँ वाल्मीकीय सुन्दरकाण्डके पाँच सर्ग (४२ से ४६ तक) के भटोंको कह दिया। अस्सी हजार किंकरनामक शूरवीर, चैत्यप्रासादके सैकड़ों रक्षक, प्रहस्तपुत्र, जम्बुमाली, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् सप्त मन्त्रिपुत्र, विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण नामक पाँच सेनापति और सेना जो रावणने भेजी—यही सब 'नाना भट' हैं।] (ख)—*'तिन्हहि देखि'* इति। [देखना कहकर इनकी सावधानता दर्शित की। सर्वत्र दृष्टि है। इससे यह भी जनाया कि वे किसी बहुत ऊँचे स्थलपर (जैसे कि बागका फाटक) बैठे हुए इनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यथा—'**युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः श्रिया ज्वलंस्तोरणमाश्रितः कपिः॥**' (वाल्मी० ५। ४१। २१), '**युद्धाकांक्षी महावीरस्तोरणं समवस्थितः॥**' (५। ४२। ४२), '**युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसैस्तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम्॥**' (वाल्मी० ५। ४५। १७)] (ग) *'देखि गर्जेउ हनुमाना'* इति। *'गर्जेउ'* से भटोंको देखकर प्रसन्न होना और युद्धके लिये उत्साही जनाया। [क्या गर्जन करते थे, इसका उल्लेख वाल्मीकीयमें है, यथा—'**जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥**' (५। ४२। ३३—३६) अर्थात् अत्यन्त बलवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय, महाबलवान् लक्ष्मणजीकी जय, श्रीराघवद्वारा पालित राजा सुग्रीवजीकी जय। जिनके लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं है उन कोसलपति श्रीरामजीका मैं दास हूँ। मैं शत्रुसैन्यका संहार करनेवाला पवनसुत हनुमान् हूँ। जब

मैं शिलाओं और वृक्षोंसे बार-बार प्रहार करने लगता हूँ तब सहस्रों रावण भी मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं समस्त राक्षसोंके सामने लङ्कापुरीको ध्वंसकर और श्रीमैथिलीजीको प्रणाम कर अपना कार्य सिद्धकर चला जाऊँगा।—यह घोषणा उन्होंने प्रत्येक बार भट, सुभट और महाभटोंके आनेपर की है। वही घोषणा यहाँ जान पड़ती है। इस गर्जनका प्रभाव यह पड़ता था कि कितने ही राक्षस भयके मारे त्रस्त हो जाते थे। यथा—**'तस्य सन्नादशब्देन तेऽभवन्भयशङ्किताः।'** (वाल्मी० ५। ४२। ३७), **'ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन्भयम्॥'** (वाल्मी० ५। ४३। १२) एक बारके गर्जनमें यह भी घोषणा की थी कि अमित बलशाली वानरोंकी सेना लेकर यहाँ सुग्रीवजी आयँगे तब न तुम बचोगे, न लंका और न रावण ही। यह श्रीरामजीसे वैर बाँधनेका फल है।]

टिप्पणी—२ (क)—*'संघारे'* इति। यहाँ न तो मर्दन करना ही कहा गया और न वृक्षोंसे ही मारना कहा। तात्पर्य यह कि निशिचरको निशिचरसे, हाथीको हाथीसे, घोड़ेको घोड़ेसे, रथको रथसे मारकर सबका संहार किया; यथा—*'हाथिन सों हाथी मारे, घोरेसों सँघारे घोरे रथनि सों रथ बिदरनि बलवानकी।'* (क० ६। ४०) तथा **'बलं तदवशेषं च नाशयामास वानरः॥ अश्वैरश्वान् गजैर्नागान्योधैर्योधानरथै रथान्।'** (वाल्मी० ५। ४६। ३८-३९) —वाल्मीकीय तथा कवितावलीवाले भावको सूचित करनेके लिये यहाँ *'संघारे'* पद दिया। (ख)—*'गए पुकारत……'* इति। *'पुकारत'* अर्थात् दुःख और शोकके वचन, हा-हा इत्यादि, उच्चारण करते हुए शरीरसे पीड़ित फर्याद करते हुए चिल्लाते हुए गये; यथा—*'तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा॥'* (५। २६) गुहार मारते चले जाते हैं; क्योंकि किसीका सिर फट गया है, रक्त बह रहा है, किसीका हाथ-पैर टूट गया है, लँगड़ाते चल रहा है, कोई पँजरी पकड़े हुए चला जाता है। सब अधमरे हैं।

टिप्पणी—३ (क) पहली लड़ाईमें *'जाइ पुकारे'* पद दिया। तथा—*'कछु मारे कछु जाइ पुकारे।'* आगे अक्षयकुमारके युद्धमें जो मरनेसे बचे उनका भी जा पुकारना कहा है, यथा—*'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बलभूरि।'* पर इस युद्धमें यहींसे पुकार करते जाना लिखा—*'गए पुकारत कछु'*; क्योंकि ये अधमरे हैं। (ख) प्रथम बार जिन्होंने रावणसे जाकर पुकार की, उन्होंने पूरा ब्योरा कह सुनाया कि एक वानर आया है, वह बहुत भारी है इत्यादि। अब इन सब बातोंका कोई प्रयोजन न रहा, इससे अब पुकारनामात्र कहते हैं।

शंका—जब प्रथम यह कह दिया कि *'सब रजनीचर कपि संघारे'*, तब कुछ अधमरे कहाँसे आ गये जो पुकारते हुए गये? समाधान—जो मुख्य-मुख्य थे, जैसे कि किंकर, जम्बुमाली, सप्त मन्त्रीपुत्र इत्यादि, वे सब मारे गये। फौजमेंसे कुछको पुकार करनेके लिये, रावणको समाचार देनेके लिये, सम्भवतः अधमरा छोड़ दिया गया (ये भी तो अब मरे ही तुल्य हैं; अतः *'सब संघारे'* कहा। अथवा, यह लेखशैली है, मुहावरा है। इने-गिने ही बचे इसीसे सबका मारा जाना कहा)।

श्रीलमगोड़ाजी—प्रत्येक अवसरपर तुलसीदासजीके फिल्मकलाके संकेत और चित्रण अति उत्तम हैं; जैसे—*'रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं॥'*

पुनि पठएउ तेहिं अच्छ* कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥७॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥८॥

अर्थ—फिर उसने (रावणने) अक्षयकुमारको भेजा। वह अगणित सुन्दर योद्धाओंको साथ लेकर चला॥७॥ इसे आता देख एक वृक्षको पकड़ (हाथोंमें ले) कर उन्होंने उसको डाँटा-डपटा और तड़पे और उसे मारकर महाध्वनिसे गर्जन किया॥८॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि पठएउ तेहिं अच्छ…………'* इति। पहले मन्त्रियोंके पुत्रोंको भेजा था। मन्त्रीके ऊपर राजा है। अतएव अबकी बार अपने पुत्रको भेजा। पहले *'नाना भट'* भेजे गये थे, जो मारे गये।

---

* अक्ष—भा० दा०।

अतः अब '*सुभट*' साथ लेकर गया और वह भी अपार। (ख)—'*अच्छ कुमारा*' इति। यह रावणका लड़का है। 'कुमार' से जनाया कि छोटी अवस्थाका है। लघुवयस्क होनेसे उसे अपने बल-पराक्रमका बड़ा गर्व था। पराक्रम और उत्साहसे इसका मन बढ़ा-चढ़ा था। युद्धके लिये सदा उद्यत रहता था और उद्धत था। यथा—'**समरोद्धतोन्मुखं कुमारमक्षम्**।' (वाल्मी० ५। ४७। १), '**पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः**।' अर्थात् जिसका पराक्रम और उत्साह कभी क्षीण न होता था। (ग)—'*संग लै*' अर्थात् अपनी रक्षाके लिये इनको साथ लिया। भारी सेनापति है, अतः उसकी सेना भी भारी है।

टिप्पणी—२ '*बिटप गहि तर्जा*' इति।—यहाँ वृक्षको उखाड़ना न कहा, अनेक वृक्ष उखड़े पड़े हैं, उन्हींमेंसे एकको हाथमें लेकर उसका वध किया।

☞ अक्षयकुमार वीर है। वीरको देखकर गर्जना उत्साह सूचित करता है, अतः गर्जे। यथा—'*सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना॥*' पहले वीरको देखकर गर्जे, फिर उसे मारकर भी गर्जना कहा। तात्पर्य कि यह भारी वीर था इसीसे इसे मार डालनेपर अधिक उत्साह हुआ; अतएव अन्तमें पुनः जोरसे गर्जे। यह विजयका गर्जन है, यथा—'*भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥*' (४। ८। २) इसके सामने और सब सुभट सामान्य ही थे, इससे उनके मारनेसे उत्साह न हुआ।

टिप्पणी—३ महाध्वनिसे गर्जन करनेमें भाव यह है कि जितने बलसे लड़नेका विचार था उतना बल न लगाना पड़ा और वह मर गया— वह बल मनमें भरा हुआ था, अतएव महाध्वनि करके उत्साहको पूरा किया। यथा—'*जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव। गर्जहिं सिंहनाद कपि भालु महाबल सींव॥*' (६। ३८) पुनः इससे विजयघोषणा जनायी और ललकार भी की और जो इससे भी बली हों उनको भेज। विशेष चौ० ५ देखिये।

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि*॥१८॥

अर्थ—(उन्होंने) कुछको तो मारा और कुछको मसल डाला, कुछको पकड़कर धूलमें मिला दिया और कुछने पुनः जाकर पुकार की कि 'हे प्रभो! वानर बलका समूह अर्थात् परम बलवान् है'॥१८॥

टिप्पणी—१ अक्षयकुमार अपार सेना लेकर आया, उसको 'कुछ' लिखनेका भाव यह कि हनुमान्‌जीको सब राक्षस कुछ ही जान पड़ते हैं। सभीको इन्होंने जीत लिया। यह सिद्धान्त वर्णन कर दिया। राक्षसोंका पराक्रम विस्तारके भयसे वर्णन न किया।

टिप्पणी—२ अबतक तीन बार युद्ध हुआ। प्रथम युद्धमें मर्दन करना कहा, यथा—'**रक्षक मर्दि मर्दि *महि डारे।***' दूसरेमें संहार, यथा—'*सब रजनीचर कपि संघारे।*' कहा और तीसरेमें सेना अपार थी इससे उसमें कई क्रियाएँ कीं—मारा, मर्दन किया, धूलमें मिलाया।

टिप्पणी—३ (क) तीनों क्रियाओंके भाव—जब राजकुमार मर गया तब सेना अनाथ हो गयी। जो उत्तम वीर थे वे सम्मुख आकर लड़े, अतएव उनको मारा। जो मध्यम श्रेणीके अर्थात् सामान्य वीर थे उनको मर्दन कर डाला और जो निकृष्ट थे उन्हें मींज (मसल-मसल) कर धूलमें मिला दिया। यथा—'*कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मींजि मिलाएसि गर्दा॥*' (६। ६६) (कुम्भकर्ण) (ख)। '*मिलाएसि गर्दा*' का भाव कि प्रथम पकड़कर हाथसे मींजा। जब हाथ रुधिरसे भर गया तब अंजलिभर गर्द लेकर हाथ साफ किये तब मर्दे हुए गर्दमें मिल गये।

मा० त० सु०—जिन्होंने दूरसे बाणादिका प्रहार किया उन्हें दौड़-उछल-कूद धर-पकड़कर मारा। जो शरीरमें लिपट गये उनको शरीरहीमें मर्दन कर डाला। और जो दौड़ने-उछलने आदिमें पैरों तले पड़े वे धूलमें मिल गये। जो भाग बचे उन्होंने जा पुकारा।

प्र०—वृक्षादिसे मल डाला, एकसे एकको टकरा दिया और लातसे धूलमें मिला दिया।

टिप्पणी—४ '*कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि।*' (क) '*मर्कट बल भूरि*'। जब भारी सरदार

---

* ब्र० चं०—दोहरा है।

और उनकी अपार सेनाको मारा तब कपिका बल जाकर कहा। तात्पर्य कि अब उसके सामनेके लिये उसीको भेजिये जिसके 'भूरि बल' हो। (ख)—*'प्रभु'* का भाव कि समर्थ आप भी रहे पर उसके बल बहुत है। वा, आप भी समर्थ हैं, उसकी जोड़का बलवान् भट भेज सकते हैं। हमलोग उसका मुकाबला नहीं कर सकते, व्यर्थ ही उसके हाथों सेनाका नाश न कराइये। जो अत्यन्त बलवान् हो उसे ही भेजिये। (ग) *'मर्कट'* इति। अभीतक समाचार देनेवालोंने 'कपि' शब्दका प्रयोग किया था; यथा—*'नाथ एक आवा कपि भारी।', 'सब रजनीचर कपि संघारे।'* (५। १८। ३, ६); पर इस बार *'मर्कट'* कहा। यह भी साभिप्राय है। इससे जनाते हैं कि वह मारता भी है और काटता भी है।

प० प० प्र०—*'प्रभु'* शब्दमें व्यंग यह है कि आपका प्रभुत्व तो अब समाप्त हो गया; आपसे भी भूरि बल मर्कट अब *'प्रभु'* हो गया।

टिप्पणी—५ ☞इस अशोकवनके युद्धमें चार आवृत्तियाँ हैं—

१—पहली लड़ाईमें नहीं गर्जे। दूसरीमें गर्जे। तीसरीमें महाध्वनिसे गर्जे। चौथीमें कटकटाकर गर्जे। यथा क्रमसे—*'रहे तहाँ बहु भट'।* इनसे विशेष *'नाना भट'* हैं; इनको देखकर गर्जे। *'………भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ।'* इनसे विशेष *'सुभट'* हैं; इन्हें देखकर महाध्वनिसे गर्जे; यथा—*'आवत देखि………ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'।* आगे इनसे भी विशेष दारुण भट आया; उसे देखकर कटकटाकर गर्जे; यथा—*'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा………'।* इति प्रथमावृत्ति।

२ (क) 'भट, सुभट, महाभट, दारुण भट।' क्रमसे उदाहरण; यथा—(१) *'रहे तहाँ बहु भट रखवारे'* और *'सुनि रावन पठये भट नाना।'* (२) *'पुनि पठयेउ तेहिं अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥'* (३) *'रहे महाभट ताके संगा'।* और, (४) *'कपि देखा दारुन भट आवा'।* (ख) (दोहा)—*'भट अरु गर्जब तरुग्रहण युद्ध अक्षरन जानु। मेघनाद कपि सम समर चार आवृत्ति बखान॥'* उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति द्वितीयावृत्ति।

३ भटके मारनेमें वृक्ष न लिया, यथा—*'रहे तहाँ बहु भट रखवारे', 'कछु मारे………'।* पुनः यथा—*'सुनि रावन पठये भट नाना।………सब रजनीचर कपि संघारे।'* (१)। सुभटोंको वृक्ष लेकर मारा, यथा—*'चला संग लै सुभट………आवत देखि बिटप गहि तर्जा।'*—(२) दारुण भटको अति विशाल तरुसे मारा। यथा—*'अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ………'* इस प्रकारसे उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति तृतीयावृत्ति।

४ रक्षक पाँच अक्षरोंमें मारे गये। अर्थात् इनके मारनेमें पाँच अक्षरोंका प्रयोग हुआ। यथा—*'कछु मारेसि'* (१) दूसरे युद्धके वीर १२ अक्षरोंमें मारे गये। यथा—*'सब रजनीचर कपि संघारे।'* (२) तीसरी लड़ाईके वीर ३२ अक्षरोंमें मारे गये; यथा—*'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि॥'* (३) चौथी लड़ाईमें मेघनाद और हनुमान्‌जीसे बराबरका युद्ध हुआ। दोनोंको क्रोध हुआ, दोनों गजराजोंके समान लड़े, दोनोंने परस्पर एक-दूसरेको मारकर मूर्च्छित किया। यथा—

बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा	१ *कटकटाइ गर्जा अरु धावा*
भिरे जुगल मानहु गजराजा।	२ (जुगलमें दोनों आ गये।)
ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा	३ *मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई*
ताहि एक छन मुरुछा आई	४ *तेहि देखा कपि मुर्छित भयऊ*

इति चतुर्थावृत्ति। इस प्रकारसे भी उत्तरोत्तर विशेष कहा।

नोट—इन आवृत्तियोंका बोध निम्न नकशेसे शीघ्र होगा—

१ भट—*'रहे तहाँ बहु भट रखवारे'*	इनके युद्धमें गर्जे नहीं	बिना वृक्ष लिये *'कछु मारेसि'*	*'कछु मारेसि'* में पाँच अक्षर हैं।
२ नाना भट—*'सुनि रावन पठये भट नाना'*	यहाँ गर्जे *'तिन्हहिं देखि गर्जेउ'*	बिना वृक्ष लिये *'सब संहारे'*	*'सब रजनीचर कपि संहारे'* में १२ अक्षर हैं।

३ सुभट—*'पुनि पठयेउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट……'*	*'आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥*	यहाँ विटप महि तर्जा वृक्ष लेकर लड़े ३	तीसरेके मारनेमें ३२ अक्षर आये हैं—*'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।' 'कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।*
५ महाभट और दारुनभट—*'रहे महाभट ताके संगा'* *'कपि देखा दारुनभट आवा'*	यहाँ *'कटकटाइ' 'गर्जा अरु धावा'*	यहाँ *अति बिसाल तरु'* *'अति बिसाल तरु एक उपारा'*	चौथा युद्ध बराबर हुआ।

सुनि सुतबध लंकेस रिसाना। पठएसि मेघनाद बलवाना॥ १॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥ २॥*

अर्थ—पुत्रका वध सुनकर लंकेश (रावण) क्रोधित हुआ और बलवान् मेघनादको भेजा॥ १॥ (और उसे समझाया कि—) हे पुत्र! मारना नहीं वरन् उसको बाँध करके लाना, उस बंदरको देखें तो कि कहाँका है!॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनि सुतबध………'* से स्पष्ट किया कि अक्षयकुमार उसका पुत्र था। इसीसे उसके मरनेपर क्रोध उत्पन्न हो गया। मंत्री आदिके पुत्रों और भट-सुभटोंके मरनेपर क्रोध न आया था। (ख)—पुत्रका वध सुनकर शोक न किया; क्योंकि यह विषादका अवसर नहीं है। इस समय विषादसे कुछ हाथ न लगेगा, शत्रु सिरपर चढ़ा है, उसे मारनेका यह समय है अतएव क्रोध किया। जब मेघनादने शत्रुको बाँध ले जाकर उसके सामने खड़ा कर दिया, अर्थात् जब काम हो गया, शत्रु बँध गया, तब सुतवधका स्मरण करके दुःखी हुआ; यथा—*'सुतबध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद।'* (२०) (ग)—*'लंकेस रिसाना'* इति। [वाल्मीकीयसे स्पष्ट है कि उसे प्रिय पुत्रके मारे जानेसे बहुत दुःख हुआ पर उसने मनको सावधानकर उस समय धैर्य धारण किया, दुःख प्रकट न होने दिया, पर दुःख रोषरूपसे बाहर निकल पड़ा। यथा—'**मनः समाधाय स दैवकल्पं समादिदेशेन्द्रजितं सरोषः॥**' (५। ४८। १) दूसरा कारण क्रोधका 'लंकेस' नामसे जनाते हैं कि त्रैलोक्यविजयीके लंकापतित्वमें लंकामें ही, जहाँ कि जगत्-मात्रको अकेले ही जीत लेनेवाले अनेक वीर उपस्थित हैं वहीं उसका पुत्र मारा गया, अतः उसको क्रोध आना चाहिये ही कि पुत्रवध करनेवालेको समूल नष्ट कर डाले।] पुनः, भाव कि यदि यह लंकाका रक्षक है, लंकामें यदि कोई किसीका अपराध करता है तो रावण उसको दण्ड देता है और इसने तो उसके पुत्रको ही मार डाला तब क्योंकर न रुष्ट हो? [प० प० प्र० का मत है कि 'वध' शब्दका प्रयोग प्रायः वहीं किया जाता है जहाँ किसी अपराधके लिये देहान्त दण्ड दिया जाता है। *'सुतबध'* और *'लंकेस'* शब्दोंका भाव यह है कि यह एक असम्भव और अद्भुत घटना है कि रावणके जीते-जी उसका प्रिय वीरपुत्र 'अपराधीके समान मारा जाय'। ऐसा विश्वमें कौन है?]

वि० त्रि०—*'सुनि सुतबध'* इति। पुकारनेवालोंने तो इतना कहा कि *'प्रभु मर्कट बल भूरि'।* अक्षयकुमार मारा गया, यह कहनेका किसीको साहस नहीं। पुकार करते समय बंदरके बलकी प्रशंसाका अर्थ ही यह था (कि उसके बलके आगे अक्षयकुमारका बल न चला, वह मारा गया) अतः कहते हैं कि *'सुनि सुतबध लंकेस रिसाना'।* बिगड़ा कि उसे अभी तुरंत दण्ड देना चाहिये।

टिप्पणी—२ *'पठएसि मेघनाद बलवाना'* इति। (क) क्रोध करके मेघनादको भेजा। इससे जान पड़ा कि अभी मेघनादको न भेजता। अनिप, अकंपन, अतिकाय, महोदर आदि वीरोंको भेजकर तब कहीं मेघनादको भेजता; जैसे लंकाकाण्डमें ये सब वीर जब युद्धमें काम आ चुके तब मेघनाद आया। (ख) पुकार करनेवालोंने आकर पुकार की कि वानर बड़ा बलवान् है। अतः अबकी *'पठएसि मेघनाद बलवाना'।* तात्पर्य कि रावणने समझ लिया कि और कोई वीर उसके समान बलवान् नहीं जान पड़ता और जो कोई जायगा

* 'सुनि………।' पायकुलक, 'पठएसि………' नयमालिनी। (२), (३), (४) पायकुलक। (ब्र० चं०)

वह मारा जायगा। मेघनाद बलवान् है, यह समझकर उसे भेजा। (सुतवध किया है, अतः तुरंत दण्ड देना है। इसीसे जिसकी योद्धाओंमें प्रथम लीक संसारमें है उसे भेजा। वि० त्रि०)

नोट—१ रावणको मेघनादके बलका पूरा भरोसा है, यह उसने उससे स्वयं कहा है; यथा—'**ममानुरूपं तपसो बलं च ते पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे। न त्वां समासाद्य रणावमर्दे मनःश्रमं गच्छति निश्चितार्थम्॥**' (वाल्मी० ५। ४८। ६) अर्थात् तपोबल, शारीरिक बल, पराक्रम, अस्त्रबल और युद्धकलामें तुम मेरे समान हो; रणसंकटमें तुम्हारा स्मरण करते ही मुझे विजयका निश्चय हो जाता है, चिन्ताएँ और विषाद दूर हो जाते हैं। रावणको विश्वास है कि यह सबको मार सकता है, यथा—'***जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्हके लरिबे कर अभिमाना॥ तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी॥***' (१। १८२); अतएव मेघनादको भेजा।

नोट—२ 'मेघनादका भाव कि जैसे हनुमान्जी गरज रहे हैं वैसे ही यह भी मेघसमान गरजता है। अतः जोड़का है। जब वह पैदा हुआ था तब ऐसी जोरसे गर्जा था कि पृथ्वी काँप उठी थी।

नोट—३ '***बलवाना***'=अतुलित योधा (यथा—'***चला इंद्रजित अतुलित जोधा।***'),=दारुण भट; यथा—'***कपि देखा दारुन भट आवा।***' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अक्षकुमारको मारकर हनुमान्जीने राक्षसाधिपतिको बहुत विस्मित कर दिया। यथा—'**महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं चकार रक्षोऽधिपतेर्महद्भयम्।**' (५। ४७। ३७)—इसीसे उसने तुरंत मेघनादको ही भेजा। मेघनादको आज्ञा देते हुए उसने जो कहा है कि—'तुम ब्रह्मास्त्रवित् हो, शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ और सुरासुरको शोकदाता हो, त्रैलोक्यमें कोई ऐसा नहीं है जो तुमसे परास्त न हुआ हो। तुम अपने भुजबल और तपोबलसे सर्वप्रकार सुरक्षित हो। तपोबल आदिमें तुम मेरे समान हो। तुम उस वानरकी अन्तःशक्ति और पुरुषार्थ तथा अपना बल विचारकर सामर्थ्यानुसार अपना बल दिखलाओ। तुम्हारे युद्धक्षेत्रमें जाते ही, ऐसा करो कि मेरी सेनाका नाश होना बंद हो जाय। तुम अकेले ही जाओ; क्योंकि कोई उस बलवान् शत्रुके सामने ठहर नहीं सकता इत्यादि।'—यह सब '***बलवान***', '***अतुलित योधा***' एवं '***दारुन भट***' की व्याख्या ही समझिये। और जो कहा है कि तुमको युद्धमें भेजना निश्चय ही ठीक नहीं है, परंतु किया क्या जाय? यथा—'**न खल्वियं मतिश्रेष्ठ यत्त्वां संप्रेषयाम्यहम्।**' (५। ४८। १३) इससे उसका अत्यन्त विस्मित और विवश होकर मेघनादको ही भेजना स्पष्ट है, यह समझकर कि यही उसको कम्पायमानकर बाँध ला सकता है।

टिप्पणी—३ (क) '***मारसि जनि सुत बाँधेसि ताही।***' इति। अक्षकुमारादिसे ऐसा न कहा था, मेघनादसे ही क्यों कहा? क्योंकि (जम्बुमाली, मन्त्रिपुत्र और अक्षकुमारादिके संहारसे उसको ज्ञात हो गया कि वानरपर वज्र और अस्त्र-शस्त्र भी व्यर्थ हो जाते हैं। दिव्यास्त्रवित् ही उसको परास्त कर सकेगा और मेघनाद ब्रह्मास्त्रवित् है इससे) रावणको उसके बलका भरोसा है। विशेष ऊपर टि० २ और नोटमें आ चुका है। (ख) '***मारसि जनि***' कथनसे स्पष्ट है कि रावणको यह निश्चय था कि यह वानरको मार सकता है, मार डालेगा, इसीसे कहा कि उसका वध न करना। क्योंकि मार डालनेसे तो फिर असली शत्रुका पता न चलेगा कि किसने इसे भेजा है अथवा जो इस रूपसे आया है। दण्ड तो वस्तुतः असली शत्रुको देना उचित है। अतः बाँध लानेको कहा। (ग) '***देखिय कपिहि कहाँ कर आही।***' इति। देखें तो वह कहाँसे आया है। तात्पर्य कि हमारा वैरी तो तीनों लोकोंमें कोई न था; [यथा—'***सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥***' (३। २३)]; यह कौन है और कहाँसे पैदा हो गया? जिसने इसे भेजा हो उसे कुलसमेत मारना चाहिये। उसे उसकी करनीका मजा चखाना चाहिये। इसी भावसे रावणने प्रथम हनुमान्जीसे यही पूछा कि—'***कवन तै कीसा। केहिके बल घालेसि बन खीसा॥***'

नोट—४ '***देखिय***' के अनेक भाव हैं। देखें तो; देखना चाहिये (अर्थात् युक्तिसे पता लगाना चाहिये कि किसने भेजा है); मजा चखाना या दण्ड देना चाहिये—'देख लेंगे' इस अर्थमें मुहावरा है। वाल्मीकीयमें जो रावणने वीरोंको (५ सेनापतियोंको) भेजते समय समझाया है कि मेरा मन कहता है कि यह वानर

नहीं है, इन्द्रादिने इसे अपने तपोबलसे हमारी बुराई करनेके लिये यहाँ भेजा होगा। वानर समझकर इसकी उपेक्षा न करना। मैंने विपुल पराक्रमी वाली, सुग्रीव, जाम्बवान्, नील आदिको देखा है; पर वे ऐसे भयंकर वेगवाले नहीं हैं, न उनमें ऐसा तेज या पराक्रम है और न बुद्धि, बल और ऐसा उत्साह है। और न उनमें रूपकल्पनाकी ऐसी बुद्धि है। अवश्य ही वानररूपमें यह कोई महाबलवान् प्राणी है। उसकी करनीपर विचार करनेसे मुझे यही जान पड़ता है। यथा—'**न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रति तर्कयन्। सर्वथा तन्महद्भूतं महाबलपरिग्रहम्॥**', '**भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात्।**', '**नावमन्यो भवद्भिश्च कपिर्धीरपराक्रमः॥ दृष्टा हि हरयः पूर्वे मया विपुलविक्रमाः। वाली च सह सुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः॥ नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः। नैवं तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः॥ न मतिर्न बलोत्साहो न रूपपरिकल्पनम्। महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम्॥**' (वाल्मी० ५। ४६। ६, ८, ११—१४)—वे सब भाव '*देखिय कपिहि*..........' में आ जाते हैं। दोहा २१ (१) (३) भी देखिये।

चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा॥ ३॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥ ४॥

अर्थ—अतुलित योद्धा, इन्द्रको भी जीतनेवाला, मेघनाद चला। भाईका वध सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया॥ ३॥ कपिने देखा कि इस बार यह बड़ा भयानक और कठिन योद्धा आया है तब दाँत कटकटाकर क्रोध करके गर्जा और दौड़ा॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) '*इंद्रजित*' का भाव कि जैसे इन्द्रको जीतकर बाँध लाया था, वैसे ही हनुमान्‌जीको बाँधकर पिताके आगे हाजिर करेगा। (ख) '*अतुलित*'=जिसके तुल्य कोई नहीं। यथा—'*बारिदनाद जेठसुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई॥*' (१। १८०) ['*इन्द्रजित*' और '*अतुलित जोधा*' विशेषण देकर इसको हनुमान्‌जीकी जोड़का जनाया। हनुमान्‌जीने तो बालकेलिहीसे इन्द्रके वज्रको तुच्छ कर दिया था, यथा—'*राहु-रबि-शक्र-पबि-गर्व-खर्वीकरण*' (विनय० २५), '*जाकी चिबुक-चोट चूरन किया रद-मद कुलिस कठोरको।*' (विनय० ३१) और '*अतुलित बल धाम*' हैं ही, यह मं० श्लोक २ में कहा गया है। पर मेघनादने इन्द्रको अपनी मायासे जीता था और इन्होंने पैदा होते ही बाल-क्रीड़ासे ही उनके दाँत खट्टे कर दिये थे। अथवा '*इंद्रजित*' कहकर जनाया कि उसने वैसा ही पराक्रम दिखाया जैसा इन्द्रको जीतनेमें किया था।] (ग) '*चला इंद्रजित*' कहकर जनाया कि वह अकेला ही चल दिया। उसके साथ किसी औरका चलना नहीं लिखते। भाव यह कि वह अतुलित योद्धा है, किसीकी सहायता नहीं चाहता। यथा—'*मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेका आइ। उतरेउ बीर दुर्ग तें सन्मुख चल्यो बजाइ॥*' (६। ४८) इत्यादि। अन्य वीर सेनाकी सहायता चाहते हैं, यथा—'*पुनि पठएउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥*' इन्द्रजित्‌के साथ जो महाभट संगमें आये, वह अपनी इच्छासे उन्हें संग नहीं लाया। [वाल्मीकीयमें रावणने इसे अकेले ही जानेको कहा। इसीसे सम्भवतः यहाँ भी चलते समय अकेला कहा गया। इससे उसकी निर्भीकता सिद्ध होती है। पीछे रावणने रक्षाके लिये तुरत ही महाभटोंको भी भेज दिया होगा, जैसे कि लक्ष्मणजीसे युद्धके समय भेजा था; यथा—'*इहाँ दसानन सुभट पठाए।*' (६। ५२)]

टिप्पणी—२ '*बंधु निधन सुनि*' इति। भाईका मारा जाना सुनकर क्रोध हुआ। इन्द्रको जीतनेवाले मुझ अद्वितीय योद्धाके रहते मेरे भाईका वध एक वानरने किया, यह समझकर क्रोध हुआ। जैसे रावणको क्रोध हुआ यह समझकर कि इतना बड़ा राजा मैं सो मेरे पुत्रको उसने मारा। '*चला इंद्रजित*' कहकर तब '*बंधु निधन*' का सुनना कहा। इससे सूचित होता है कि अक्षका वध किसीने उसे रास्तेमें सुनाया। [रावणका '*सुत बध*' सुनना कहा और मेघनादका '*बंधु निधन*' सुनना कहते हैं। वहाँ वध और यहाँ निधन शब्दका प्रयोग करके जनाया कि मेघनादका भाव है कि वह युद्धमें मारा गया, अतः शोच्य नहीं है। उसे सद्गति प्राप्त

होगी। पर रावणको तो ऐसा लगा कि मैंने जो सीतापहरण अपराध किया है उसका दंड मेरे पुत्रको दिया गया। *'औरु करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।'* (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) *'कपि देखा दारुन भट आवा'* इससे ज्ञात होता है कि भटको देखते ही ये जान लेते हैं कि उसमें कैसा बल है।* (ख)—*'कटकटाइ गर्जा'* इति। कटकटाना कपिकी क्रोधमुद्रा है, यथा—*'कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी॥'* (६। ३१। ३), *'कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओंठ काटहिं अति तर्जहिं॥'* (६। ४०। ६), *'कटकटाइ डारहिं ता ऊपर* (६। ६४। ४)' [*'कटकटाइ'*=क्रोधसे दाँतोंसे कटकट शब्द करते हुए। 'गर्जा', यथा—'आयान्तं स रथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रजितं कपिः। ननाद च महानादं''''''''''''॥' (वाल्मी० ५। ४८। २४) गर्जनसे यह जनाया कि आओ, हम तुम्हारे लिये तैयार हैं।] (ग) *'धावा'* से जनाया कि दारुणभट समझकर किञ्चित् भी शंकित न हुए, दौड़कर आगे पहुँचे अर्थात् भट और सुभटके आनेपर उनको मारा और दारुणभटको देखकर उसको पासतक आने भी न दिया, स्वयं ही उसके पास दौड़कर पहुँच गये। इससे हनुमान्‌जीका बल, वेग, निर्भीकता, युद्धोत्साह आदि प्रकट होते हैं।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा†॥६॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने एक अत्यन्त विशाल वृक्ष उखाड़ा और लंकेश्वरके पुत्रको बिना रथका कर दिया (अर्थात् रथ नष्ट करके उसको रथसे गिरा दिया)॥ ५॥ उसके साथ जो बड़े-बड़े योद्धा थे, उनको पकड़-पकड़कर कपि अपने अङ्गोंसे मसल देते हैं (वा, मर्दन करने लगे)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) अक्षयकुमारकी तरह वधकी इच्छा करके बड़ा विशाल वृक्ष लेकर चलाया, मेघनाद आकाशमें चला गया। रथ, सारथी और घोड़े नष्ट हो गये; यथा—*'देखि पवनसुत कटक बिहाला। क्रोधवंत जनु धायेउ काला॥ महासैल एक तुरत उपारा'''''''''। आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरग सब खोई॥'* (६। ५०) यह विद्या अक्षकुमारमें न थी। मेघनाद राक्षसी विद्या (=माया) में अत्यन्त निपुण है। (ख) *'अति बिसाल'* का भाव कि जैसा भारी वीर है, वैसा ही भारी शस्त्र लिया। वहाँ अनेक शस्त्र पड़े थे पर वे इनको नापसन्द थे, और पर्वत वहाँ था नहीं, इसीसे *'अति बिसाल'* वृक्ष उखाड़ा। 'विशाल' में यह भी ध्वनि है कि ऐसा बड़ा कि जो लंकेशकुमारको विशेष शाल (पीड़ा, करके) दे। (ग) *'बिरथ कीन्ह''''''''''* 'का भाव कि राजकुमारकी शोभा रथमें बैठे होनेसे थी। उसकी शोभा नष्ट कर दी कि ले, बहुत सज-धजकर आया था, अब पैदल बनकर लड़।‡ [(घ) वृक्षका उखाड़ना कहकर मेघनादको रथरहित करना कहा। रथपर चलाना न कहकर केवल उसका परिणाम कहा। इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखायी। जैसे श्रीरामजीकी शीघ्रता *'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।'* में दिखायी, वैसे ही यहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी फुर्ती दिखायी है। (प० प० प्र०) लं० दोहा १३ में इसी तरह श्रीरामजीका *'चाप चढ़ाइ बान संधाना'* कहकर उसका कार्य भर कहा गया कि *'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।'* (ङ) *'लंकेसकुमारा'* कहा, नाम न दिया। इससे जनाया कि इसका बल, पराक्रम लंकेशके समान था। (प० प० प्र०) हनुमान्‌जीके सामने आनेपर इसका नाम न देनेका भाव यह भी हो सकता है कि उनको इसका नाम नहीं मालूम है।]

टिप्पणी—२ *'रहे महाभट ताके संगा।''''''''''* ' इति। (क) मेघनादको छोड़कर दूसरेसे युद्ध होने लगा, इससे पाया जाता है कि वह अन्तर्धान हो गया है; अभी प्रकट नहीं हुआ। क्षणभर अन्तर्धान रहा, उतनेहीमें

---

* 'देखा' से सावधानता भी दिखाया। बहुत दूरसे उसे देख लिया यह बात 'धावा' से स्पष्ट है। 'दारुण भट'—टि० १ 'अतुलित' और दोहा १९ (१) 'बलवाना' देखिये।

† 'अति बिसाल''''''''।' द्रुतपा, 'बिरथ''''''''अंगा।' पायकुलक है।

‡ 'लंकेसकुमारा' का भाव कि इसमें लंकेश होनेकी योग्यता है। (रा० प्र०)

इन्होंने सेनाका नाश कर दिया। रथ और महाभट पीछे वर्णन करके जनाया कि ये दोनों उसके चलनेके पीछे आये। घरसे वह पैदल ही चला था, बीचमें रथपर सवार हुआ और वहीं सेना आकर मिली। (ख) और सरदारोंके मारे जानेपर राक्षस भागकर रावणके पास जाते थे, यथा—*'कछु मारे कछु जाइ पुकारे। गए पुकारत कछु अधमारे'* और *'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि',* पर यहाँ अभी मेघनाद जूझा नहीं है, आकाशमें चला गया है; इसीसे साथके महाभट भाग न सके, सभी मारे गये। (ग) *'अति·········अंगा'* से हनुमान्‌जीका अत्यन्त वेग, अप्रमेय पराक्रम, निर्भयता और युद्धकौशल दिखाया।

तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहु गजराजा॥ ७॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥ ८॥*

अर्थ—उन्हें (महाभटोंको) मारकर फिर मेघनादसे मल्लयुद्ध किया। (ऐसा मालूम होता था—) मानो दो गजराज भिड़े हों॥ ७॥ हनुमान्‌जी उसे एक घूँसा मारकर वृक्षपर जा चढ़े। उसको एक क्षणभरके लिये मूर्छा आ गयी॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) महाभटोंको मच्छड़-सरीखा अङ्गमें मल दिया और मेघनादसे मल्लयुद्ध किया। इससे ज्ञात हुआ कि मेघनाद लाखों महाभटोंसे विशेष बलिष्ठ है। पूर्व पहले सरदारोंको मारकर तब सेनाको मारा करते थे, पर यहाँ सेनाका नाश करके तब सरदारसे भिड़े—*'तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा।'* कारण कि प्रथम मेघनादको जब विरथ किया तब वह आकाशमें जा छिपा; इससे सेनाका ही नाश प्रथम करना पड़ा। पुनः, मेघनादको बलका गर्व था; यथा—*'पठएसि मेघनाद बलवाना'*। इसीसे उसने आकर मल्लयुद्ध किया। (ख)—शङ्का—मेघनादका रथ टूट गया तो वह दूसरा रथ क्यों न तैयार करके चढ़ा? मल्लयुद्ध क्यों किया? समाधान—उसने सोचा कि यदि दूसरा रथ तैयार करके चढ़ूँगा तो ये भारी वृक्षसे फिर मारेंगे, और यदि मल्लयुद्ध करूँ तो यह मुझसे जीत न सकेगा। क्योंकि वानर ही तो है, कहाँतक बली होगा? इस तरह यह धोखेमें आकर भिड़ पड़ा; हनुमान्‌जीके बलका मर्म न जान पाया था। यदि मर्म जानता तो न भिड़ता; यथा—*'बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरमु सो जाना॥'* (६। ५०) (ग) मल्लयुद्ध पशुयुद्ध है; इसीसे दोनोंको गजराज कहा। दोनोंका बराबरका युद्ध हुआ।—दोहा १८ आवृत्तियाँ टि० ४ में देखिये।† *'बाजा'* जनकपुरकी बोली है।

वि० त्रि०—*'तिन्हहिं निपाति·············'* इति। महाभटोंको मारकर हनुमान्‌जी मेघनादसे भिड़ गये। *'निपाति'* और *'बाजा'* का कर्ता एक ही है। मेघनादको भी बलपरीक्षाकी इच्छा थी। राक्षसोंने पुकारा था *'प्रभु मरकट बल भूरि',* इसलिये रावणने बलवान् मेघनादको भेजा। दोनों गजराजकी भाँति भिड़े। गजराज शुण्ड-में शुण्ड लपेटकर मस्तकमें मस्तक भिड़ाकर बल-प्रदर्शन करते हैं। इसी भाँति हनुमान्‌जी और मेघनादकी भुजाएँ लिपटी हुई हैं, माथामें माथा भिड़ा हुआ है। मल्लयुद्धमें अस्त्र-शस्त्र नहीं चलते, मुष्टिप्रहार होता है। हनुमान्‌जीने हाथ छुड़ाकर ऐसा घूँसा मारा कि मेघनाद गिर गया। हनुमान्‌जीने समझा कि मर गया, इसलिये पेड़पर चढ़े कि देखें अब कौन आता है, पर वह मरा नहीं, क्षणभरके लिये मूर्छामात्र हुई।

टिप्पणी—२ (क) *'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।··········'* इति। भाव कि मेघनादसे मल्लयुद्धमें पार न पाया तब उसे मुष्टिका मारकर गिराया, यथा—*'बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुत सुत प्रभुहि सँभार्‌यो॥ संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो। महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहुँ*

---

* 'तिन्हहिं·········।' नयमालिनी है। 'भिरे·········' और (८) (९) पायकुलक है। (ब्र० चं०)

† १—मा० त० सु०—गजराजसे उपमा देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे ये कपिराज वैसे ही वह राक्षसराज, ये नरराजके आज्ञाकारी और वह राक्षसराजका। पुनः, गजराज=सिंह!—(नोट—परंतु गोस्वामीजीने गजराजको गजेन्द्र, मतवाले श्रेष्ठ हाथीके अर्थमें प्रयोग किया है। यथा—'चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै' (आ०)। मृगराज=सिंह)। २—यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

जय जय भन्यो॥' (६। ९४) [वा, ***'मुठिका मारि'*** का भाव कि भिड़ते ही उसको मारा, यह इनका मल्लयुद्ध-कौशल दिखाया। कैसी फुर्तीसे भिड़े, मार गिराया और वृक्षपर जा चढ़े कि आगेके लिये सावधान रहें। यहाँ ***'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहा जानकी जाहु'*** का चरितार्थ है। भिड़ते ही मारना यह बुद्धि है। एक घूँसेसे ऐसे वीरको मूर्च्छित करना बल है।] (ख) मल्लयुद्धमें मुष्टिका मारनेकी विधि है, यथा—***'भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥'*** (४। ८) (ग)—***'चढ़ा तरु जाई'*** यह क्यों? यह डरसे नहीं, किंतु इससे कि मेघनाद मूर्च्छित है, मूर्च्छितको क्या मारें? मूर्च्छितको मारना प्राचीनकालमें धर्मविरुद्ध माना जाता था, यथा—***'मुरुछा भई सक्ति के लागें। तब चलि गयउ निकट भय त्यागें॥'; 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बलसींव॥' ; 'मुठिका ताहि एक कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥ मुरुछा गै बहोरि सो जागा।'; 'पुनि सत सर मारा उर माहीं। परेउ धरनि तल सुधि कछु नाहीं॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी।'*** (६। ५४, ६५, ८४, ८३) इत्यादि प्रसंगोंसे विदित है कि मूर्च्छा होनेपर शत्रुको वीर योद्धा मारते नहीं। उस नीतिका पालन दिखाया। और वीर जो संग थे उनको प्रथम ही समाप्त कर दिया था, अब कोई है नहीं, जिससे लड़ते। अतएव वृक्षपर चढ़ गये। वहाँसे देखेंगे भी कि और कोई तो नहीं आता और इसकी मूर्च्छासे जगनेकी प्रतीक्षा भी करेंगे।

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका और मेघनादका ब्रह्मास्त्र दोनोंको बराबरका दिखाया। मेघनादको मुष्टिकासे मूर्च्छा हुई और हनुमान्‌जीको ब्रह्मास्त्रसे (पर हनुमान्‌जी ब्रह्मास्त्रसे स्वयं बँधे, नहीं तो चाहते तो वह बाँध न सकता था)।

प० प० प्र०—यहाँ हनुमान्‌जीका वृक्षपर चढ़ना प्रथम कहा—***'चढ़ा तरु जाई';*** और मेघनादका मूर्च्छित होना पीछे—***'ताहि एक छन मुरुछा आई'***। इस प्रकार दिखाया कि श्रीहनुमान्‌जीका आत्मविश्वास कितना गहरा था। उनको दृढ़ विश्वास था कि मेरे इस घूँसेसे उसको अवश्य मूर्च्छा आयेगी। इसीसे घूँसा मारकर वे वृक्षपर चढ़ गये।

उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजनजाया॥ ९॥

अर्थ—फिर उठकर उसने बहुत माया की परन्तु पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी उससे जीते नहीं जाते॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) उठनेपर फिर न भिड़ा; क्योंकि अब इनके बलका मर्म पा गया कि लड़कर पार न पाऊँगा। शरीरके बलसे हार गया तब माया की। मायासे हारेगा तब ब्रह्मास्त्र चलायेगा। (ख) ***'बहु माया'*** से जनाया कि जितनी माया आती थी वह सब की। (ग) ***'जीति न जाइ'*** का भाव कि जो-जो माया वह करता उसे हनुमान्‌जी निवारण कर देते, काट डालते। इसीसे ***'प्रभंजनजाया'*** कहा। प्रभंजनका अक्षरार्थ है—जो प्रकर्ष करके भंजन करे। उसके ये पुत्र हैं; अतएव इन्होंने भी मायाको भंजन किया। भाव यह कि जितने भूत-पिशाचादि हैं वे सब पवनमें उड़ जाते हैं; इसीसे नजर, टोना झाड़नेके पीछे फूँक देते हैं। [जब द्रोणाचलसे संजीवनी लानेको गये हैं तब कालनेमिकी मायाको तोड़ा है; इसलिये वहाँ भी यही शब्द आया है। यथा—***'चला प्रभंजनसुत बल भाषी।'*** (६। ५५)]

नोट—१ (क) मायाका विस्तार लंकाकाण्डमें लिखेंगे, इससे यहाँ नहीं लिखा। (ख) मा० त० सु०—मेघनादकी माया न लगी क्योंकि ये मायापतिके सेवक हैं, और ***'नट सेवकहिं न ब्यापइ माया'।*** (ग) बहुत माया करनेपर भी जीते नहीं जा सकते, इससे जनाया कि उसको श्रीहनुमान्‌जीमें कोई भी छिद्र न देख पड़ा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि दोनोंमें किसीको एक-दूसरेका छिद्र नहीं जान पड़ा, दोनों समान पराक्रमशाली थे। यथा—**हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम्। परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः**""""""॥' (५। ४८। ३३) तब मेघनाद विचार करने लगा कि यह अस्त्र-शस्त्रसे अवध्य हैं, इनको किस उपायसे पकड़ा जाय। यथा—'**ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने शरेष्वमोघेषु च संपतत्सु। जगाम चिन्तां महतीं महात्मा**""""""॥', '""""""**अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम्।**' (५। ४८। ३४-३५) यह सोचकर उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया।

दो०—ब्रह्म अस्त्र तेहिं साधा कपि मन कीन्ह बिचार। जौं न ब्रह्मसर मानौं महिमा मिटइ अपार॥ १९॥

शब्दार्थ—ब्रह्मास्त्र—यह एक मन्त्र है। गायत्री-मन्त्र उलटा 'त्यादचोप्रनः.........' इत्यादि पढ़नेसे और कुछ विशिष्ट बीजाक्षरोंके लगानेसे बनता है। इस मन्त्रके सामर्थ्यसे त्रैलोक्यका विनाश करना सुलभ है। पर यह तब सिद्ध होता है जब ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। द्वापरके अन्तमें भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और अर्जुन ही इसका प्रयोग कर सकते थे; पर अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानते थे। (प० प० प्र०) यह समस्त अस्त्रोंसे श्रेष्ठ और अमोघ है। साधना=संधान करना; प्रयोग करना।

अर्थ—उस (मेघनाद)ने ब्रह्मास्त्र साधा (तब) कपि हनुमान्‌जीने मनमें विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्रका मान न करूँ (अर्थात् जैसे मैंने सब राक्षसी माया व्यर्थ कर दी वैसे ही ब्रह्मास्त्रको भी व्यर्थ कर दूँ) तो उसकी अपार महिमा मिट जायगी॥ १९॥

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्र साधारणतः नहीं चलाया जाता। जब मेघनाद सब प्रकारसे हार गया तब उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। यथा—*'नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा॥'* (६। ५३), **'सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम्।'** (वाल्मी० ५। ५८। १३०), अर्थात् इन्द्रजित्‌ने अपनी सेनाको मर्दित देख और मुझे अपने मानका न जान **'ब्रह्मणोऽस्त्रेण स तु मां प्रबद्ध्वा चातिवेगिनः।'** (वाल्मी० ५। ५८। १३१) बड़ी शीघ्रतासे ब्रह्मास्त्रसे मुझे बाँध लिया। जब लक्ष्मणजीसे युद्ध हुआ तब भी *'रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ बीरघातिनी छाँड़ेसि साँगी।'* (ख) पूर्व दोहा १२ में दिखा आये हैं कि हनुमान्‌जी सब काम विचारकर करते हैं; वैसे ही यहाँ भी उन्होंने ब्रह्मास्त्रके विषयमें विचार किया। (ग) *'जौं न मानौं'* से जनाया कि हनुमान्‌जी इसके वशमें नहीं हैं, चाहते तो न मानते। पुनः, इसके साधते ही इनको मालूम भी हो गया कि हमपर वह ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करता है। (घ)*'महिमा मिटइ अपार'* से जनाया कि ये उसके बलसे न हारे, न उसकी मायासे पराजित हो सके, ब्रह्मास्त्रकी महिमाके विचारसे हारे।—**'मर्यादाभेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः।'** 'अपार महिमा' यह कि देवता, मनुष्य, राक्षस इत्यादि जितने भी जीव त्रिलोकमें हैं वे सब ब्रह्मास्त्रके वशमें हैं। हम इसका सम्मान न करेंगे तो ब्रह्मास्त्रकी यह बड़ाई संसारमें न रह जायगी।

नोट—१ वाल्मी० सु० सर्ग ४८ में ब्रह्मास्त्र चलानेमें मेघनादके विचार और उसके माननेमें हनुमान्‌जीके विचार इस प्रकार हैं—(क) अमोघ बाणोंके भी निष्फल होनेपर मेघनादने विचार किया कि ये अवध्य हैं, इनको किस प्रकार पकड़ा जाय। यह सोचकर ब्रह्मास्त्र चलाकर उनको बाँध लिया।—(श्लो० ३४-३७) (ख) श्रीहनुमान्‌जी चिन्तित और पीड़ित न हुए, वरन् ब्रह्माके वरपर विचार करते हुए सोचने लगे। ब्रह्मास्त्रमें अपनी श्रद्धा और उस ब्रह्मास्त्रके तोड़नेकी अपनी शक्ति और ब्रह्माकी कृपाको विचारकर यही निश्चय किया कि उसे मानना ही चाहिये। अस्त्रसे बँध जानेपर भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि मैं ब्रह्मा, इन्द्र और वायुके द्वारा रक्षित हूँ। मेरे पकड़े जानेमें भी मुझे यह गुण दिखायी पड़ता है कि रावणसे सम्भाषण होगा; अतएव वे लोग मुझे पकड़ ले जायँ यही अच्छा है। हनुमान्‌जीने अपना बाँधा जाना और राक्षसोंद्वारा तिरस्कार इस विचारसे अच्छा समझा कि कदाचित् रावण कौतूहलवश मुझे देखना चाहे तो मेरी उससे बातचीत हो जायगी। (३९—४७) यथा—**'स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य पितामहानुग्रहमात्मनश्च। विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म॥'** (४२) यही बात रावणसे भी उन्होंने कही है—**'वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम्।.........अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि॥ पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः। राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम्॥ विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः। केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम्॥'** (५। ५०। १५—१८)। अर्थात् मुझे ब्रह्मासे वर मिला है, मैं किसी भी अस्त्रसे बाँधा नहीं जा सकता और न उससे बँधा हूँ, मैंने तो केवल तुम्हारे दर्शनार्थ वनको उजाड़ा और यहाँ

रामचन्द्रजीका कुछ कार्य करनेके लिये आया हूँ।

नोट—२ प्रभु मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वे स्वयं ब्रह्माके दिये हुए वरदानोंकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं और मैं उनका दास हूँ, अतएव मुझे भी उसकी मर्यादा रखनी चाहिये; नहीं तो आगे कोई भी उनके वर देनेपर विश्वास न करेगा, उनका महत्त्व जो प्रभुने उन्हें दे रखा है, उठ जायगा।

नोट—३ हनुमन्नाटकमें कहा है कि प्रथम हनुमान्‌जीने मेघनादके प्रहारको निष्फल कर दिया तब उसने ब्रह्माजीकी निन्दा की, तब ब्रह्माजीके कहनेसे चतुर हनुमान्‌जी स्वयं ब्रह्मपाशसे बँध गये। यथा—'**तत्कोपारुण-लोचनेन्द्रजयिना प्राङ्निष्फलत्वाद्धृतं ब्रह्मास्त्रेण विगर्हितेन विधिना बद्धो विदग्धः कपिः।**' (६। २१)

नोट—४ ब्र० चं०—यह दोहरा है।

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहु बार कटकु संघारा॥ १॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भएऊ। नागपास बाँधेसि लै गएऊ॥ २॥

अर्थ—उसने (मेघनादने) कपिको ब्रह्मबाण मारा। (वे वृक्षपरसे नीचे गिरे) गिरते समय भी उन्होंने कटकका नाश किया (अर्थात् जितनी दूरतक सेना थी, उतनी दूरतक शरीर बढ़ाकर ऐसे गिरे कि सब पिस गये)॥ १॥ जब उसने देखा कि कपि मूर्च्छित हो गया तब मेघनाद उनको नागपाशमें बाँधकर ले गया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्रने कपिको गिराया, कपिने सेनाका संहार किया। भाव कि गिरतेमें भी ब्रह्मास्त्रसे अधिक काम किया, तब सचेत अवस्थाकी क्या कही जाय? (ख) *'परतिहु बार'।* अर्थात् युद्धमें तो कटकका संहार किया ही था, गिरतेमें भी किया। (ग) शंका—कटकका नाश तो प्रथम ही हो चुका—(यथा—*'तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा'*) अब कटक कहाँ था जिसका संहार किया? समाधान—यह कटक पीछेसे आया। रावण पुत्रकी सहायताके लिये सुभटोंको भेजता रहा। यथा—*'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥'* (६। ५२) (घ) यहाँ श्रीहनुमान्‌जीके गिरनेपर कटकका संहार कहते हैं और लंकाकाण्डमें कुंभकर्णके गिरनेपर वानर-कटकका दबना लिखते हैं, यथा—*'परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥'* (६। ७०), *'धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई॥ चापि भालु मर्कट समुदाई॥'* (६। १०२) तात्पर्य कि इनका संहार हुआ, ये तो मर गये और वहाँ केवल दबे, प्राण बने ही रहे, पीछे वे निकल आये [कोई मरे नहीं। इससे हनुमान्‌जीकी उत्कृष्टता दिखायी। गिरनेमें भी स्वकार्य-साधन ही हेतु है, ब्रह्मास्त्र नहीं। सेनाका संहार करनेके लिये भी गिरे]।

टिप्पणी—२ (क) *'तेहि देखा'* का भाव कि चारों वक्ताओंमें कोई भी यह नहीं कहता कि कपि मूर्च्छित है। और, वह मूर्च्छित है भी नहीं। वे ब्रह्मास्त्रका मान रखे हैं; इसीसे मेघनादको मूर्च्छित दिखते हैं। जब अच्छी तरह समझ लिया कि ये मूर्च्छित हैं तब पास गया; क्योंकि समझता है कि यदि कपि केवल दम साधे हुआ और मैं पास गया तो अबकी मुष्टिकासे प्राण ही ले लेगा। अतएव जब निश्चय देख लिया कि मूर्च्छित है तब निकट गया। (ख) *'नागपास बाँधेसि'*—मूर्च्छित दशामें ही बाँध लिया; क्योंकि मूर्च्छासे जगनेपर बाँधना सम्भव नहीं। बाँधा इससे कि मूर्च्छा दूर होनेपर फिर बड़ा उपद्रव करेगा और फिर ब्रह्मास्त्र भी न लगेगा। (ग) *'लै गएऊ'* से जनाया कि ये आपसे गये, उसके सामर्थ्यसे नहीं; यथा—*'दसमुख सभा दीख कपि जाई'।*

मा० त० सु०—(१) नागपाशसे बाँधा क्योंकि जैसे ब्रह्मास्त्र व्यर्थ नहीं हुआ, वैसे ही यह भी व्यर्थ न होगा। (२)—यहाँ सर्वोपरि प्रभावशाली ब्रह्मास्त्र तथा नागपाशके प्रयोगसे मेघनादका यह अन्तिम युद्ध-कौशल और श्रीहनुमान्‌जीका अजेयत्व प्रतिपादित हुआ। अत्यन्त प्रबल पराक्रमीसे युद्ध होनेमें नागपाश-बन्धन ही समर्थ होता है; यथा—*'ब्यालपास बस भए खरारी।'* (६। ७२)

वंदनपाठकजी—जब मेघनाद इन्द्रको जीतकर बाँध ले गया, तब ब्रह्माजीने इन्द्रको जाकर छुड़ाया और बदलेमें ब्रह्मास्त्र दिया और कहा कि यह अमोघ है। और, हनुमान्‌जीको यह आशीर्वाद दिया कि ब्रह्मास्त्र

भी तुम्हारा कुछ न कर सकेगा और यदि कुछ करेगा भी तो केवल ढाई दण्डतक, तत्पश्चात् तुम उससे विमुक्त हो जाओगे।

नोट—१ नागपाश वरुणका दिया हुआ है। बाबा हरिदासजीका मत है कि उसने सोचा कि यदि ब्रह्मपाशमें मैं इनको बाँध ले गया तो इसमें मेरी कौन वीरता कही जायगी, क्योंकि ब्रह्मपाशसे तो सभी फाँस सकते हैं; इससे नागपाशसे बाँधकर ले गया।

नोट—२ वाल्मीकिजीके मतानुसार *'परतिहु बार'* और *'तेहि देखा कपि मुरुछित भएऊ'* का भाव यह होगा कि ब्रह्मास्त्रमर्मवेत्ता मेघनादने अब यह जान लिया कि हनुमान्‌जी इससे भी अवध्य हैं, नहीं तो मर ही जाते, केवल मूर्च्छित न होते; अतः उनको ब्रह्मास्त्रसे तुरत बाँध लिया। यथा—**'अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित्। निजग्राह महाबाहुं मारुतात्मजमिन्द्रजित्॥'** (५। ४८। ३७)

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ग्यानी॥ ३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥ ४॥

अर्थ—हे भवानी! सुनो! जिसका नाम जपकर ज्ञानवान् मनुष्य भव-बन्धन काट डालते हैं, उनका दूत क्या बन्धनमें आ सकता है? (अर्थात् भव-बन्धनके आगे नागपाश तो कुछ भी नहीं है) प्रभुके कामके लिये कपिहीने अपनेको बँधाया था॥ ३-४॥

नोट—१ *'जासु नाम जपि सुनहु भवानी।.........'* इति। श्रीशिव-पार्वती, श्रीभुशुण्डि-गरुड़ और श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाजके जोड़े बीच-बीचमें सांकेतिक रूपसे अपने विचार उसी प्रकार प्रकट करते जाते हैं, जैसे महाकाव्यसम्बन्धी नाटकोंमें दूरसे उज्ज्वल गोलेमें कृष्णभगवान् द्रौपदीके चीरहरणके समय अपना दुपट्टा फेरते दिखाये जाते हैं। महाकाव्यकलाका मेल नाटकीय कलासे करानेकी यह युक्ति सराहनीय है। पर संकेत इतने छोटे होते हैं कि रस भंग नहीं होता, हम उसे तनिक ही देरमें भूल-सा जाते हैं। २—रणका फिल्म-कलाको मात करनेवाला चित्र तो आपने देख ही लिया है। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ (क) *'नर ग्यानी'* पदसे यह मालूम होता है कि ज्ञान होनेपर नाम जपे तब भव-बन्धन कटता है और नामका तो बड़ा महत्त्व नामवन्दना-प्रकरण आदिमें कह आये हैं। दोनोंका समन्वय कैसे हुआ? उत्तर—यहाँ ग्रन्थकारका उपदेश है कि मुक्त, मुमुक्षु और विषयी—तीनों नाम जपकर ही भव-बन्धन काटते हैं, नाम प्रधान है, यथा—*'गिरिजा जासु नाम जपि मुनि काटहिं भवपास।'* (६। ७२), *'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।'* (७। ५८) मुनि मुमुक्षु और नर विषयी हैं।* तथा यहाँ *'भवबंधन काटहिं नर ग्यानी॥'* ज्ञानी जीवन्मुक्त जीव हैं, मुनि मुमुक्षु हैं और नर विषयी जीव हैं। इनमेंसे कोई भी बिना नामजपके भवपार नहीं हो सकता। यह भव-बन्धन ऐसा कठिन है। [प० प० प्र० का मत है कि 'ज्ञानी नरके समान भव-बन्धनको काटते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिये; क्योंकि केवल ज्ञानसे भी मुक्ति होती है—*'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना'* भाव यह है कि जिस भव-बन्धन-विनाशके लिये ज्ञानदीपकमें कथित अपार कष्ट उठाने पड़ते हैं वही भवबन्धन जिनका नाम जपनेसे नष्ट होता है।]

टिप्पणी—२ (क) *'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'*। तात्पर्य कि इनके बँधनेसे प्रभुका कार्य हुआ। दशमुख-सभा देखी, लंका जलायी, राक्षसोंका मान मर्दन किया। यह सब प्रभुका कार्य है। यथा—*'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥'* पुनश्च, यथा—**'किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्।'** (वाल्मी० ५। ५३। १३) अर्थात् श्रीरामजीकी प्रसन्नताके लिये मैं इस प्रकारके (बन्धन, पूँछमें आग लगाकर घुमाया जाना, गाली आदि) अनादरको भी सह लूँगा। विशेष दोहा १९ में देखिये। (ख) *'कपिहि बँधावा'*=कपिने अपनेको बँधाया। जैसे *'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो'* रणकी शोभाके

* मा० त० सु०—'ज्ञानी' शब्दसे ज्ञानाचार्य श्रीशिवजीने ज्ञानसम्पन्न जनोंको नामावलम्बी होनेका उपदेश दिया। 'नर' शब्द अल्पज्ञवाचक है अर्थात् पापी मनुष्य।

लिये प्रभुने अपनेको बँधाया। 'अपनेको' पदका अध्याहार करना होगा। (ग) शंका—यह कैसे निश्चय हुआ कि '*प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा*'? समाधान—जब आगे आप ही नागपाशसे छूट गये। यथा—'*निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी*', तो क्या इस समय न छूट सकते? (घ) '*तासु दूत*' का भाव कि और लोग तो नाम जपकर बन्धन काटते हैं, जिनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और ये तो उनके दूत हैं, अथवा, इनका तो स्वामी-सेवकका नाता है। तब भला ये बन्धनसे मुक्त न हो सकते?

नोट—२ '*प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा*' इति। इसपर दोहा १९ के नोटमें लिखा जा चुका है। ☞यहाँ उपदेश मिलता है कि स्वामीके कार्यके निमित्त स्वार्थका त्याग करके अपने यश और प्राणोंकी भी परवा न करके उसमें प्रवृत्त होना चाहिये। निषादराजने भी कहा है—'*ठाटहु सकल मरै के ठाटा। ....सनमुख लोह भरत सन लेऊँ।.........रामकाजु छनभंगु सरीरा॥......... स्वामि काज करिहउँ रन रारी। ....तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें।*' (२। १९०) इत्यादि।

☞'*सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा*' से '*प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा*' तक '*बन उजारि*' प्रसङ्ग है।

'रावनहि प्रबोधी'-प्रसंग

कपिबंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥ ५॥
दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ ६॥

अर्थ—कपिका बाँधा जाना सुनकर निशिचर दौड़े (कि अब कुछ भय नहीं है, अभीतक हनुमान्‌जीके भयसे छिपे बैठे थे)। कुतूहलके कारण सब सभामें आये॥ ५॥ कपिने जाकर रावणकी सभा देखी? उसकी अति प्रभुता कुछ भी कही नहीं जा सकती। (अर्थात् देखते ही बनती है। ऐसी साहिबी और सभा कपिने न देखी थी, सभा देखकर आश्चर्य हुआ)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '*सुनि धाए*' क्योंकि कौतुक देखनेकी उत्कण्ठा है। जिसकी जिस चीजके देखनेकी इच्छा होती है वह उसके लिये दौड़ता ही है, यथा—'*धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥*' (१। २२०), '*समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई॥*' (२। १२१), '*जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बालबृद्ध कहँ संग न लावहिं॥*' (७। ३) [पहले अक्षकुमारके वधसे अति शोकातुर होकर जहाँ-तहाँ छिपे वा बैठे हुए थे। अब अति आनन्दित हो दौड़े। (मा० त० सु०) बड़ा कौतुक कपिके देखनेका है, पर सैनिकोंका बार-बार पलायन देखकर भयसे कोई युद्धस्थलमें देखने नहीं जाता था। जब सुना कि बन्दर बाँधा गया, राजसभामें लाया जा रहा है, तब तो सब दौड़े और राजसभामें आये। रास्तेमें देखने नहीं गये कि कहीं बीचमें ही बन्धन न तोड़ डाले। सभामें स्वयं रावण हैं अतः वहाँ कोई भयकी बात नहीं है। (वि० त्रि०)] (ख) '*कौतुक लागि*'। अर्थात् ऐसा भारी और बलिष्ठ वानर न देखा था न सुना, देखने योग्य है, अवश्य शीघ्र चलकर देखना चाहिये। (ग) यहाँ '*कौतुक*' शब्दपर प्रसङ्ग छोड़ते हैं, बीचमें हनुमान्‌जीका सभामें आना और रावणसे संवाद होना कहकर तब फिर इसी '*कौतुक*' शब्दसे प्रसङ्ग मिलावेंगे—'*कौतुक कहँ आये पुरबासी।*'

नोट—१ श्रीलमगोड़ाजीने अपने 'विश्वसाहित्यमें श्रीरामचरितमानस' अन्तर्गत 'हास्यरस' में खेलाड़ी श्रीहनुमान्‌जीके करतब दिखा ही दिये हैं। जो कौतुक देखने आये हैं, वे भरपेट कौतुक देख लें। ये अभी हँसते हैं, पर कभी रोवेंगे।

टिप्पणी—२ '*दसमुख सभा दीखि कपि जाई*' इति। भाव कि चारों ओर स्वर्णके हजारों खम्भे लगे हैं, ऊपर रत्नमण्डप है, नीचे स्फटिकमणिका फर्श है, मध्यमें रावणका सिंहासन है। सब खम्भों आदिमें रावण आदिका प्रतिबिम्ब झलक रहा है। पहचान नहीं पड़ता कि इसमेंसे कौन असली रावण है, कौन प्रतिबिम्ब। यहाँ हनुमान्‌जीकी बुद्धिमानी देखिये। उन्होंने देखा कि अमुक रावणके प्रथम हाथ उठानेसे अन्य सबका हाथ उठता है, उसीके सिर हिलानेसे सबके सिर हिलते हैं इत्यादि। अतः अमुक ही असली

रावण और सब प्रतिबिंब। रामचन्द्रिका देखिये।

नोट—२ वह *'अति प्रभुताई'* क्या है, इसे आगे कहते हैं।

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ ७॥
देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका॥ ८॥

अर्थ—देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े बड़ी नम्रतासे भयसहित सब रावणकी भौंह ताक रहे हैं॥ ७॥ यह प्रताप देखकर भी कपिके हृदयमें (कुछ भी) शंका (डर) न हुई (वे वैसे ही निश्शंक देख पड़ते थे) जैसे सर्पोंके बीचमें गरुड़ निश्शंक रहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) सुरसे सामान्य देवता और दिशिपसे विशेष, इस प्रकार छोटे-बड़े सभी देवता सूचित किये। *'सभीता'* का भाव यह कि उसकी भृकुटी अवलोकन करते हैं, उससे भयभीत रहते हैं, तब भी रावणकी भृकुटी चढ़ी ही रहती है। यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। ....आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥'* (१। १८२) (ख) दशमुखकी सभामें कपि श्रीहनुमान्‌जीका जाना सुनकर सब निशाचरोंका दौड़कर जाना कहा, पर देवताओंका आगमन न कहकर केवल यही कहा कि *'कर जोरे सुर दिसिप........।'* इस भेदसे यह जनाया कि देवता आठों पहर हाजिर रहते हैं। सभाके प्रारम्भमें ही वे आकर खड़े हो जाते हैं।* (ग) पहले जिसे *'अति प्रभुताई'* कहा, उसीको यहाँ 'प्रताप' कहा। दोनोंको पर्यायी जनाया।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**अप्यष्टौ ते लोकपाला मम भयचकिताः पादरेणुं ववन्दुः।**'; '**इन्द्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ सम्मार्जयन्तौ गृहान्। पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहे नेक्षसे।**'; '**ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः। स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बरो ....॥**' (हनु० ८। १९, २३, ४५)—अर्थात् रावण अङ्गदसे कहता है कि अष्टलोकपाल भयसे चकित होकर मेरे चरणरेणुकी वन्दना करते हैं। इन्द्र तो माली है, सूर्य ड्योढ़ीदार है, चन्द्रमा छत्र धारण करनेवाला है, पवन और वरुण झाड़ूबरदार हैं, अग्नि रसोई बनानेमें मेरे यहाँ स्थित रहता है—क्या तू यह नहीं देख रहा है? रावणका एक प्रतीहार ब्रह्मादिको फटकार रहा है कि—'हे ब्रह्मन्! यह पठनका समय नहीं है, चुप होकर बाहर बैठो। हे जड़मति बृहस्पति! यह इन्द्रकी सभा नहीं है, थोड़ा बोलो। हे नारद! स्तोत्रोंको रहने दो।.......॥' पुनः, यथा—*'बेद पढ़ैं बिधि, संभु सभीत, पुजावन रावनसों नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिरु नावैं॥ ऐसेउ भाग भगे दसभाल तें जो प्रभुता कबि-कोबिद गावैं।'* (क० ७। २)—यही सब *'अति प्रभुताई'* वा 'प्रताप' है।

टिप्पणी—२ (क) प्रताप देखकर शंका न हुई, यह कहकर सूचित किया कि हनुमान्‌जीका पराक्रम समस्त देवताओं और समस्त राक्षसोंसे अधिक है; यथा—*'पंचमुख छमुख भृगुमुख्यभट असुर सुर सर्ब सरि समर समरत्थ सूरो। बाँकुरो बीर बिरुदैत बिरुदावली बेद बंदी बदत पैज पूरो॥'* (बाहुक), '**कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम्। लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः॥**' (वाल्मी० ५। ५१। ३१) अर्थात् मैं अकेला ही निस्सन्देह सारी लङ्काको घोड़ों और हाथियोंसहित नाश कर सकता हूँ, '**सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि।**' (वाल्मी० ५। ५३। १३) अर्थात् मैं अकेला ही सब राक्षसोंसे युद्ध करनेको समर्थ हूँ। '**न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥**' (वाल्मी० ७। ३५। ८), *'देखी मैं दसकंठ! सभा सब, मोंतें कोउ न सबल तो।'* (गी० ५। १३) (ख) प्रथम कहा कि *'दसमुख सभा दीखि कपि जाई।'* देखना कहकर प्रभुता कहने लगे। प्रभुता कहकर तब फिर *'देखि'* पदसे प्रारम्भ किया।

टिप्पणी—३ (क) *'देखि प्रताप न कपि मन संका'* का दूसरा भाव यह है कि रावणका प्रताप सुनकर ही भय उत्पन्न होता है, यथा—*'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही॥'* (२१। २)

* २० (१) से २० (८) तक पायकुलक है। (ब्र० च०)

पर हनुमान्‌जी प्रताप देखकर भी शङ्कितहृदय न हुए। (ख) *'जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका।'* अहिगणको देखकर गरुड़को भक्षण करनेका उत्साह होता है, वैसे ही राक्षसोंको देखकर हनुमान्‌जीको इनके 'वध' का उत्साह होता है। यथा—*'देखी मैं दसकंठ! सभा सब मोंतें कोउ न सबल तो'*—(गीतावली) (पुनः जैसे गरुड़को देखकर सर्पोंको भय होता है, वैसे ही हनुमान्‌जीको देखकर राक्षस शंकित हुए कि ऐसा न हो कि छूट जाय तो फिर बड़ा उत्पात या अनर्थ करे। ☞ रावणका प्रताप देखकर शंका न हुई, क्योंकि उनके हृदयमें प्रभुका प्रताप भरा है जो इसके प्रतापसे अधिक है। यथा—*'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल', 'प्रभु प्रताप कपि सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥'* (६। १८) [*'जिमि अहिगन ....'* में उदाहरण अलंकार है।]

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद॥ २०॥

अर्थ—कपिको देखकर रावण दुर्वचन कहकर दसों मुखोंसे खूब हँसा। फिर सुतवधका स्मरण किया तो हृदयमें शोक और दुःख उत्पन्न हो गया॥ २०॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिहँसा कहि दुर्बाद'* अर्थात् इस प्रकार हनुमान्‌जीका तिरस्कार किया। (ख) दुर्वादका स्वरूप गोस्वामीजीने प्रायः कहीं प्रकट नहीं लिखा, यथा—*'लषन कहेउ कछु बचन कठोरा।'* (२। १५२); *'मरम बचन सीता जब बोला।'* (३। २८); *'कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर।'* (६। ९०); और *'तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।'* (६। १०७) इत्यादि। (ग) यहाँ रावणकी तन, वचन और मनकी दशाएँ दिखायी हैं। *'कपिहि बिलोकि दसानन'* यह तनकी दशा, *'कहि दुर्बाद'* यह वचन और *'उपजा हृदय बिषाद'* यह मनकी दशा है। (घ) पहले जब सुतवध सुना था तब क्रोध हुआ था। अब क्रोधका काम हो चुका, शत्रु बँध आया, उसे देखकर स्मरण हो आया कि इसीने हमारे पुत्रका वध किया है। दोहा—१९ (१) देखिये। अथवा, जब अक्षकुमार मारा गया तब उसने मेघनादको भेजा, पर मनमें चिन्तित रहा कि कहीं यह भी न मारा जाय। अतएव तबतक अक्षवधका शोक न हुआ। जब कपि बँधकर आ गया, चित्त स्वस्थ हुआ, तब सुतवधका स्मरण किया। पहले सुनना कह चुके हैं; यथा—*'सुनि सुतबध लंकेस रिसाना।'*; इससे अब सुनना न कहा किंतु *'कीन्हि सुरति'* कहा।

नोट—१ प्रारम्भमें *'दसमुख सभा दीखि कपि जाई'* कहा और यहाँ *'कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा'* कहा। इससे पाया गया कि रावण सभामें जब बैठता है तब दसों शिरोंको धारण किये रहता है। इससे प्रभुता सूचित होती है। इससे यह भी जनाया कि उसने दसों मुखोंपर त्योरी चढ़ाकर बीसों नेत्रोंसे, जो क्रोधके मारे लाल हो रहे थे, घूरकर क्रूरदृष्टिसे देखा। यथा—'**स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टिर्दशाननस्तं कपिमन्ववेक्ष्य।**' (वाल्मी० ५। ४८। ६०) वाल्मीकिजी भी यहाँ 'दशानन' शब्द दे रहे हैं।

नोट—२ प्रायः लोग यह शंका कर बैठते हैं कि—'क्या रावणके दस सिर थे? दस सिर थे तो सोता कैसे था?' गोस्वामीजीका मत है कि जन्मसे ही रावणके दस सिर थे। यथा—*'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥ दस सिर ताहि बीस भुज दंडा। रावन नाम ....॥'* (१। १७६) और वह ही क्या, सभी निशिचर कामरूप थे। वे जिस समय जैसा रूप चाहते धारण कर सकते थे; यथा—*'काम रूप खल जिनस अनेका।'* (१। १७६); *'कामरूप जानहिं सब माया।'* (१। १८१), *'नाना रूप धरहिं करि माया।'* (१। १८३), अतएव सोते समय उसके एक सिर रहता था, यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं आ सकती। सहस्रार्जुनके सम्बन्धमें बालकाण्डमें लिखा गया है कि वह सदा द्विभुजधारी था, पर संध्या-तर्पण और युद्धादिमें उसके एक हजार भुजाएँ हो जाती थीं। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने जब रावणको सोते देखा तब एक ही सिर और दो ही भुजाएँ देखीं। यथा—'**ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ। मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव॥**' (५। १०। २१) अर्थात् बिछौनेपर फैली हुई दोनों भुजाओंको हनुमान्‌जीने देखा। उस समय वे दोनों भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो मंदराचलपर्वतकी तलेहटीमें दो क्रुद्ध सर्प सो रहे हों।

'बाहू' संस्कृत भाषामें दो बाहुओंका वाचक है। दो सर्पोंकी उपमा भी इसीसे दी गयी है।

नोट—३ *'बिहँसा'* इति। इसके साथ भी *'दसानन'* है। श्लेषार्थक होनेसे 'दसों मुखोंसे' हँसा—यह अर्थ देता है। 'बिहँसना' इससे भी हो सकता है कि बँधकर आया है, उपद्रव करते न डरा, ले अब अपनी करनीका फल चखेगा। अथवा इस तरह उसने अपने हृदयका अन्तर्भाव छिपाया कि सभासद ग्लानिभावको न जान पायें। यथा—*'बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन।'* (५। ५६) *'बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी।'* (६। ६) *'बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई।'* (६। १४), *'बिहँसा नारि बचन सुनि काना।'* (६। १६), इत्यादि।

नोट—४ वानरके बन्धनसे प्रसन्नता और सुतवध-स्मरणसे विषाद—दोनों भावोंके एक साथ उत्पन्न होनेसे 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

टिप्पणी—२ *'बिहँसा कहि दुर्बाद'* और *'उपजा हृदय बिषाद'* दोनों कहकर जनाया कि मुँहसे हँसता है, हृदयमें दुःख है। [यह दोहरा छद है।]

कह लंकेस कवन तइँ कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा॥ १॥
कीधौं श्रवन सुनेहि* नहिं मोही। देखौं अति असंक सठ तोही॥ २॥
मारे† निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा‡॥ ३॥

अर्थ—लंकेश्वर रावणने कहा (पूछा) 'हे वानर! तू कौन है? किसके बलसे तूने वनको उजाड़ डाला (विनष्ट किया)?॥ १॥ क्या तूने मुझे कभी कानोंसे नहीं सुना? रे शठ! मैं तुझे अत्यन्त निःशंक देख रहा हूँ॥ २॥ निशिचरोंको किस अपराधसे तूने मारा? अरे शठ! कह, (क्या) तुझे प्राणोंका भय नहीं है?॥ ३॥

नोट—१ *'कवन तइँ'* अर्थात् तेरा क्या नाम है? तेरे बापका क्या नाम है? तू किस जातिका वानर है? तेरा घर कहाँ है? किस देशका रहनेवाला है? किसका सेवक है? किसके राज्यमें रहता है? इत्यादि।

नोट—२ (क) *'कवन तइँ कीसा'* इति। वानर! तू कौन है? इस कथनमें भाव यह है कि यद्यपि तू रूपसे वानर देख पड़ता है तथापि वानरोंमें ऐसा विक्रम नहीं होता, जैसा तुझमें देखा गया, अतः निश्चय ही तू वानररूपधारी कोई तेजस्वी पुरुष प्रतीत होता है। सच-सच बता कि तू वानर ही है या वानररूपधारी कोई और है? यथा—**'न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्।'** (वाल्मी० ५। ५०। १०)—विशेष *'देखिअ कपिहि कहाँ कर आही'* दोहा १९ (२) में टिप्पणी ३ और मेरा नोट देखिये। यदि वानर ही है तो बता कि कहाँका है? अर्थात् मैं सब देशोंके वीर वानरोंको जानता हूँ। हनुमन्नाटकमें भी यही प्रश्न किया गया है—**रे रे वानर! को भवान्?** (६। २२) वाल्मीकीयमेंके **'जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः।'** (५ ५०। १४) मैं 'सचमुच वानर ही हूँ' इस उत्तरसे भी स्पष्ट है कि रावण इनको वानर नहीं समझता। इनकी बाल्यावस्थामें जब ये सूर्यसे विद्या पढ़ रहे थे तब *'कौतुक बिलोकि लोकपाल हरिहरबिधि'* का अनुमान भी यही था कि यह *'बल कैधौं बीररस धीरज कै साहस कै तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो।'* है। तब रावणको भी सन्देह हुआ तो आश्चर्य क्या? (ख)—*'तइँ'* इति। अक्षयकुमारके वधसे हृदयमें विषाद होनेके कारण अनादरसूचक एक वचन *'तइँ'* का प्रयोग कर रहा है।

नोट—३ *'केहि के बल घालेहि बन खीसा'* इति। (क)—*'केहि के बल'* अर्थात् 'क्या इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, विष्णु इत्यादिके बलपर उनकी प्रेरणासे आये हो?' यह *'अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च। धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः॥'* (वाल्मी० ५। ५०। १३) हनुमान्‌जीके इस उत्तरसे स्पष्ट है जो उन्होंने प्रहस्तद्वारा किये गये रावणके इन प्रश्नोंका दिया है—**'समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे॥ यदि तावत्त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम्। तत्त्वमाख्याहि मा ते भूद् भयं वानर मोक्ष्यसे॥ यदि वैश्रवणस्य**

* सुने—१७०४, १७२१, १७६२, कोदवराम। सुनेहि—छ०, भा० दा०।

† मारेहि—१७०४, कोदवराम। मारे—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०। मारेसि—रा० बा० दा०।

‡ २१ (१) (२)(३)(४)(५) पायकुलक है। (ब्र० चं०)

त्वं यमस्य वरुणस्य च। चारुरूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम्॥ विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा। नहि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्॥ तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे।' (वाल्मी० ५। ५०। ७—११) अर्थात् 'हे वानर! तुम्हारा कल्याण हो! तुम सच-सच बता दो कि तुमको किसने भेजा है? इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण या विष्णुने भेजा है? क्योंकि वानरोंमें यह तेज नहीं, तुम वानररूपधारी हो, वानर नहीं हो, बतलानेसे तुम छोड़ दिये जाओगे, भय न करो'। भाव यह कि तुमको छोड़कर हम वन नष्ट कर डालनेका बदला उसीसे लेंगे। पुनः भाव कि यदि तेरे अपराधोंका हम तुमको दण्ड दें तो तेरा सहायक कौन होगा? अतएव सत्य कह दे तो तुझे छोड़ दें। यह हनुमान्‌जीको वह प्राणरूपी दान कर रहा है। पुनः ***'केहि के बल'*** का भाव कि जगन्मात्रमें कोई नहीं है, जो मुझसे तेरी रक्षा कर सके। (ख)—***'घालेहि बन·······'*** इति। सर्वप्रथम वन उजाड़नेका कारण पूछनेसे भी ज्ञात होता है कि यह वन उसे प्राणप्रिय था।

श्रीलमगोड़ाजी—एक आधुनिक आलोचकने लंकाके दरबारोंपर आलोचना करते हुए लिखा है कि 'ऐसा जान पड़ता है कि तुलसीदासजीको गाँवके जमींदारोंके चौपालोंका ही अनुभव था, राजदरबारोंका नहीं।'—यह ठीक नहीं है। अयोध्याके राजसभाओं और चित्रकूटकी कान्फ्रेन्सों (दरबारों) पर सभ्यता निछावर है। पशुबलगर्वित लंकेशके दरबारोंमें भी श्रीरामदूतोंने पहले सभ्य व्यवहार ही किया है, पर जवाबमें अवश्य ही मुँहतोड़ उत्तर है। भाई! हमें भ्रम इस कारण होता है कि पत्रोंमें (Frank talk) दिलखुली वार्ता ही कहकर बातको टाल दिया जाता है, नहीं तो वैसी वार्ताएँ म्यूनिच (Munich) इत्यादिकी बैठकोंमें हुई उनका पता चले तो (Civilization) सभ्यता ही दाँतके नीचे उँगली दबा बैठती है, फिर (Parliament) पार्ल्यामेंटमें भी आस्तीनें चढ़ जाती हैं और तू-तूकारकी नौबत आ ही जाती है। अभी अन्तरराष्ट्रीय (U. N.) की बैठकवाले नगरमें रूसी और अन्य प्रतिनिधिकी वैसी गुत्थम-गुत्थाकी मुठभेड़ छपी ही है—सन् १९४७ ई० में ही (अयोध्याकाण्डमें भी इस सम्बन्धके लेख आ चुके हैं)।

टिप्पणी—१ (क) ***'कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही'*** इति। भाव कि यदि सुना होता तो ऐसा काम न करता और न ऐसा निर्भय रहता। यह बात भी अपनी बड़ाई रखनेके लिये कही। वनके उजाड़े और अक्षकुमारके मारे जानेसे रावणकी बड़ी बेइज्जती (अप्रतिष्ठा) हुई; इसीसे सभामें अपनी इज्जत (प्रतिष्ठा) को सँभालता है। (ख) रावणके रूपसे रावणका नाम अधिक भयंकर है। उसका रूप देखनेसे उतना भय नहीं होता; जितना उसका नाम सुनने से; यथा—***'तब रावन निजरूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥'*** (३। २८) अतः कहा कि ***'सुनेहि नहिं मोही'।*** (ग) पूर्व कहा कि ***'देखि प्रताप न कपि मन संका',*** उसी चेष्टाको देखकर रावणने यहाँ वैसा ही कहा। ***'असंक'*** का भाव कि जहाँ तेरे सामने सब देवता और दिक्पाल सशंक हाथ जोड़े खड़े हैं, वहाँ तू वानर होकर ऐसा 'असंक' है? [पुनः भाव कि जो भी मेरा नाम सुन लेते हैं उनके होश-हवास ठिकाने नहीं रह जाते, वे डरके मारे काँप उठते हैं, यथा—***'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥'*** (१। १८२) ***'जाके डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥'*** (३। २८) तूने भी सुना होता तो ऐसा निडर न रहता। अथवा, इससे जनाया कि मुझे सारा जगत् जानता है, यथा—***'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाकें बंदीखाना॥'*** (६। ८९) तब तूने न सुना हो यह समझमें नहीं आता। ***'असंक'*** पूर्व कह आये हैं, यथा—***'जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।'***]

टिप्पणी—२ ***'मारे निसिचर केहि अपराधा'*** इति। रावणके हृदयमें पुत्रका शोक है तो भी वह पुत्रवधका कारण नहीं पूछता और राक्षसोंके वधका कारण पूछता है। यह उसकी बुद्धिमानी और चतुरताका प्रमाण है। पुत्रके विषयमें प्रश्न करनेसे उसकी हीनता होती, उसकी निर्बलता जानी जाती कि सुनकर भी उसका किया कुछ नहीं होता। इसी कारण उस बातको छिपाकर अपनी वीरता प्रकट करता है। इससे लोग जानेंगे कि अक्षवधका समाचार इसको नहीं मिला है। ***'केहि अपराधा'*** अर्थात् उन्होंने तेरा क्या बिगाड़ा था?

नोट—४ ***'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'*** का दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि—'हे शठ! तू बता दे; तेरे प्राणोंकी बाधा न करेंगे,तुझे छोड़ देंगे। और यदि न बतायेगा तो तेरे प्राण लिये जायँगे।' यथा—**'तत्त्वतः**

कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे। अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम्॥' (वाल्मी० ५। ५०। ११) अर्थात् सत्य बोलनेसे छोड़े जाओगे, झूठ बोलनेसे जीवन दुर्लभ हो जायगा। पुनः, *'तोहि न प्रान कै बाधा'* कहकर जनाया कि बिना अपराध राक्षसोंको मारने तथा वन उजाड़नेका दण्ड वध है, तेरे प्राण लिये जायँगे।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥ ४॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा*॥ ५॥

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा) हे रावण! सुन। जिसका बल पाकर ब्रह्माण्डसमूहोंको माया रचती है॥ ४॥ जिसके बलसे हे दशशीश! ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टिको उत्पन्न, पालन और संहार करते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) जैसे रावणने कहा *'कहु सठ'*, वैसे ही हनुमान्‌जीने कहा—*'सुनु रावन'*। (ख) *'पाइ जासु बल बिरचति माया'*; यथा—*'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥'* (१। २२५) माया करोड़ों ब्रह्माण्डोंको उनके बलसे पलभरमें निर्माण कर डालती है, यह भारी बात है। यह कहकर प्रभुका बल दिखाते हैं। पुनः, भाव कि वह अपने बलसे नहीं रच सकती, ईश्वरका बल पाकर रचती है; यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥'* (३। १५) (ग) *'बिरचति'* का भाव कि यह न समझो कि पलभरमें ब्रह्माण्ड-के-ब्रह्माण्ड रचती है तो शीघ्रताके कारण अच्छे न बनते होंगे, वह पलभरमें ही विशेष-रचनायुक्त करके बना डालती है; यथा—*'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार॥'* (१। १२९) [इससे रावणके लंकापुरीकी विचित्र रचनाके गर्वको भंजन किया (श० सु०)।]

नोट—१ *'सुनु रावन'* यहाँ कहा और आगे *'दससीसा'* सम्बोधन दिया। 'रावण' का भाव कि तुझे बड़ा अभिमान है कि तू लोकोंको रुलानेवाला है, इसीसे तूने पूछा कि *'केहि के बल?'* अर्थात् जगन्मात्रको तो मैं रुलानेवाला हूँ, मेरे आगे किसका बल चल सकता है—सो सुन। जगन्मात्रको रुलानेका प्रमाण, यथा—**'रोषेण महताऽऽविष्टो रावणो लोकरावणः॥'** (वाल्मी० ५। ५०। १) *'दससीसा'* का भाव कि तुझे अभिमान है कि तेरे दस सिर हैं, जिन्हें काट-काटकर शिवजीको बलि देकर उनसे यह ऐश्वर्य प्राप्त किया। इस जरासे ऐश्वर्यपर जो तू इतना इतरा रहा है सो सुन। ☞ इन सब वचनोंसे रावणका अत्यन्त निरादर और तिरस्कार तथा हनुमान्‌जीकी निश्शंकता प्रकट हो रही है।

नोट—२ (क) रावणने उलटा प्रश्न किया; पहले सेवकको पूछा तब स्वामीको। हनुमान्‌जीने सीधा उत्तर दिया, पहले स्वामीका बल कहकर पीछे अपना नाम कहा।—[दूसरे प्रश्नको प्रथम और पहलेको दूसरेमें परिवर्तित करके शेषको यथाक्रम कहनेसे यहाँ गूढ़ोत्तर और भंगक्रम यथासंख्यका संकर है। (वीर)] (ख) उसने पूछा *'केहि के बल'*, इसीसे सब चौपाइयोंमें 'बल' शब्द कहा। [*'बल'* शब्दकी पुनरुक्तिमें अंग्रेजी पढ़े महानुभावोंको बर्क (Burke) की वाक्‌चातुरी (वचनकी प्रवीणता Oratory) का मजा आ जाता है। (लमगोड़ाजी)] (ग) ब्रह्माण्डोंकी रचना कहकर आगे ब्रह्माण्डोंके भीतर काम करनेवालोंको कहते हैं।

नोट—३ *'पालत सृजत.........'* इति। यहाँ *'बिरंचि हरि ईसा'* के क्रमानुसार 'सृजत, पालत, हरत' कहना चाहिये था। क्रमभंग हुआ है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है, अर्थ करनेमें क्रमानुसार अर्थ कर लेना चाहिये। छन्द बिठानेके लिये उलट-फेर कर लिया जाता है। अथवा, क्रमभंगसे यह जनाते हैं कि ब्रह्माण्ड अनेक हैं, सबका क्रम एक ही नहीं है। जैसे अनेक ब्रह्माण्ड, वैसे ही अनेक क्रम; यह भी ईश्वरकी अद्‌भुत लीलाका प्रतिपादक है; यथा—*'उद्‌भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी॥'* (१। १६३) कहीं ब्रह्मा पालन करते हैं, कहीं शंकर। कहीं शंकर उत्पन्न करते, कहीं विष्णु, कहीं ब्रह्मा। कहीं ब्रह्मा ही तीनों काम करते हैं। यथा—*'जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी॥'* (२। २८२) कहीं विष्णु ही सब काम करते हैं, यथा—*'आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥'*

* पालत सृजत हरत—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सिरजत पालत हर—कोदवराम।

(६। १५) और, कहीं शंकर ही सब करते हैं, यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥'* अर्थात् ये क्रियाएँ प्रत्येकके लिये हैं। बिरंचि पालत-सृजत-हरत, हरि पालत-सृजत-हरत और ईश (शिव) पालत-सृजत-हरत।—(भंग क्रमसे *'पालत सृजत'* कहना यथासंख्यालंकार है)।

नोट—४ बिरंचि आदि अपने तपबलसे काम करते हैं, यथा—*'तपबल तें जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता॥ तपबल संभु करहिं संघारा।'* (१। १६३) तब यहाँ *'जाके बल'* कैसे कहा? यह शंका यदि की जाय तो उसका समाधान यह है कि ब्रह्मादिने तप किया, पर किसका? उन्हीं प्रभुका न। उनका तप करके तब ऐसे समर्थ हुए। जिसको प्रभुने जो काम सौंपा उसीके करनेकी उसको सामर्थ्य भी दी, दूसरा उस कार्यको नहीं कर सकता। ब्रह्मादि उन्हीं प्रभु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न होते हैं और उन्हें जो ब्रह्मत्व, हरत्व आदि अधिकार मिले हैं वह सब उन्हीं प्रभुके देनेसे मिले हैं; यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* (१। १४४) *'हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई। सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई॥'* (विनय० १३५)

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥६॥

धरै* जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता†॥७॥

अर्थ—'जिसके बलसे सहस्रमुखवाले शेषजी पर्वत और वनसहित ब्रह्माण्डको अपने सिरपर धारण करते हैं (भाव यह कि तुझे जरासे कैलाश उठा लेनेसे ही बड़ा अभिमान हो गया है), जो देवताओंकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारके शरीर धारण करते हैं और तुम्हारे ऐसे मूर्खोंको सिखावन (शिक्षा एवं दण्ड) देनेवाले हैं॥ ६-७॥

टिप्पणी—१ (क) *'सीस धरत'* का भाव कि ब्रह्मादिक श्रीरामजीके प्रतापसे केवल संकल्पद्वारा उत्पत्ति आदिका काम करते हैं, उन्हें हाथसे नहीं गढ़ना पड़ता। पर शेषजीको शरीरसे काम करना पड़ता है, श्रीरामजीके बलसे उनके शरीरमें ब्रह्माण्ड धारण करने योग्य बल हो जाता है और श्रीरामजीके प्रतापसे बोझ नहीं जान पड़ता। (ख) *'सहसानन'* का भाव कि इनके हजार सिर हैं; हजार ब्रह्माण्डोंके धारण करनेकी इनको शक्ति है। वे केवल एक सिरपर ब्रह्माण्ड धारण किये हैं, यथा—*'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।'* (६। ८२) (ग) ब्रह्माण्डकी गुरुता दिखानेके लिये *'समेत गिरि कानन'* पद दिया।

टिप्पणी—२ यहाँतक यह कहा कि जिसके बलसे मैंने यह सब किया वह वही है जिसके बलसे शरीरमें प्रताप होता है, शरीरमें बल होता है। माया और विधि-हरि-हर प्रतापसे काम करते हैं और शेषजी शरीर-बलसे ब्रह्माण्ड धारण करते हैं।

टिप्पणी—३ तीनों चौपाइयोंमें ब्रह्माण्डको कहा। अर्थात् आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें ब्रह्माण्डको कहा। आदिमें ब्रह्माण्डका निर्माण कहा, मध्यमें ब्रह्मादिका उसके भीतर काम करना कहा और अन्तमें उसका धारण करना कहकर ब्रह्माण्डकी इति की कि बस ब्रह्माण्ड इतना ही है। यहाँतक प्रभुसे बल पाये हुए माया, ब्रह्मादि और शेष इन लोगोंका वर्णन किया। आगे अब स्वयं उन्हीं प्रभुका अवतार कहते हैं या यों कह सकते हैं कि अब उनके शरीरका बल और संग्रामका बल कहते हैं।

टिप्पणी—४ *'बिबिध देह'*, यथा—*'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी।'* *'सुरत्राता'*, यथा—*'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइ नसायो॥'* (६। १०९)—**धरै जो बिबिध देह**………' की जोड़का श्लोक गीतामें भी है। यथा—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे**'॥ (४। ८)

टिप्पणी—५ *'तुम्ह से सठन्ह'* यह तुर्की-बतुर्की जवाब है, जैसेको तैसा। उसने हनुमान्‌जीसे कहा था कि *'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'*, इन्होंने भी वैसा ही कहा *'तुम्ह से सठन्ह………।'* शठ शठतासे

* धरे—भा० दा०, ब्र० चं०। धरइ…ना० प्र०, गी० प्रे०। † 'जा बल…।' १२११ वाँ भेद, अंडकोस…।' १२८१ वाँ भेद, २१ (७) (८) (९) 'पायकुलक हैं—(ब्र० चं०)'

ही मानता है, दूसरी तरह नहीं। *'सिखावन दाता'*, यथा—*'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥''''''''तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* (१। १२१) यह अवतारका हेतु कहा। पूर्वार्धमें अवतार कहा था। (*'सिखावन दाता'* में यह भी भाव है कि वे लोकमात्रको शिक्षा देनेके लिये ही तुम-ऐसे शठोंको दण्ड देते हैं।)

हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥८॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥९॥

अर्थ—जिन्होंने शिवजीका कठिन धनुष तोड़ा और उसीके साथ सब नृप-समूहका गर्व नाश किया॥८॥ खर, दूषण, त्रिशिरा और वालीको मारा जो सभी अतुलित बलसे पूर्ण थे (भाव यह कि जब ऐसोंको मार डाला, तब तू किस गिनतीमें है?)॥९॥

टिप्पणी—१ (क) *'कठिन कोदंड'*—क्योंकि दस हजार राजा भी लगकर तिलभर भूमि न छुड़ा सके। उसे इन्होंने बिना परिश्रम तोड़ डाला। (ख) *'तेहि समेत'* अर्थात् उस सभामें तुम भी पराभवको प्राप्त हुए, यथा—*'जेहिं कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहिं सभा पराभउ पावा॥'* (१। २९२)

नोट—१ *'हर कोदंड'* कहनेसे कोदंड (धनुष) का हर (शिव) से सम्बन्ध सूचित हुआ। जिस प्रकार सर्वसंहारकर्ता होनेसे हर (शिव) कठिन हैं; उसी प्रकार उनका धनुष भी कठिन था। उसको जिन्होंने तोड़ डाला। भाव कि सर्वसंहारक तेरे स्वेष्टदेव रुद्रजीसे भी मेरे स्वामी अजेय हैं, तो तेरी क्या गिनती है? इस चौपाईद्वारा देवता, मनुष्य और राक्षस इन सबोंसे श्रीराघवजीकी अजेयता दिखायी। (मा० त० सु०) जनकपुरके दूतोंने कहा भी है—*'संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल भूप बरिआरा॥ तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी॥'* (१। २९२) इस प्रकार श्रीरामजीको त्रैलोक्य-विजयी बताया। मन्दोदरीजीने भी कहा है—*'जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥'* (६। ३५)—ये सब भाव श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोंसे प्रकट कर दिये।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीमद्‌गोस्वामीजीकी कलामें शब्दगुण (Sound force) हर जगह विचारणीय है। प्रसङ्गके अनुसार अक्षर आते हैं जैसे कि यहाँ ओजगुण है। रस्किन (Ruskin) की कहावत कि 'कुशल कवि वा लेखकको शब्द-शब्द नहीं किन्तु अक्षर-अक्षर पढ़ना चाहिये', तुलसीदासजीकी कलामें पूर्णरूपसे लागू होती है। अँग्रेजी भाषामें तो साहित्यमर्मज्ञको इसीसे Man of Letters कहते हैं।

टिप्पणी—२ प्रथम चार अर्धालियोंमें *'सुनु रावन ब्रह्मांड''''''''''* से *'धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। ''''''''''''* तक अवतारीका बल कहा। अब अवतारका बल कहते हैं। धनुषका तोड़ना शरीरबल है और खरदूषणादिका वध युद्धबल है—यही यहाँ दिखा रहे हैं।

टिप्पणी—३ (क) रावणको अवतारमें सन्देह है, भ्रम है। यथा—*'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा। तौ''''''''''''''जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥'* (३। २३) इसलिये प्रथम अवतार होना निःसन्देह किया और प्रमाण दिया कि मनुष्य होते तो धनुष कैसे तोड़ते और खरदूषणादिको कैसे मार सकते? यथा—*'सकल अमानुष करम तुम्हारे'*, *'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥'* (३। २३) *'सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर।'* (६। ३२) (ख) प्रथम *'हर कोदंड'* का भंजन कहा, जिसमें स्वयं रावणका गर्व चूर-चूर हो गया था, तब खर-दूषणको कहा जिन्हें रावण अपने समान बली स्वीकार करता है, फिर वालीको जो रावणसे भी अधिक बली था, क्योंकि उसने रावणको छः मासतक बगलमें दबाये रखा। यथा—*'एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालिकी काँख'*—(लं० २४)।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—'त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः। स तेन निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः॥' (५। ५१। ११) अर्थात् तुम तो वानरश्रेष्ठ वालीके बलपराक्रमको भलीभाँति पहलेसे जानते ही हो। उस वालीको श्रीरामजीने युद्धमें एक ही बाणसे मार डाला। अङ्गदने कहा है—'कृत्वा कक्षागतं

त्वां कपिकुलतिलको बालिनामा बलीयान्। भ्रान्तः सप्ताब्धितीरे क्षणमिव चरितं स्नानसंध्यार्चनं च॥.........' (हनु० ना० ८। १४) अर्थात् वानरश्रेष्ठ वाली तुझे काँखमें दबाकर क्षणमात्रमें सातों समुद्रोंके तीरपर फिरकर सन्ध्यावन्दनादि करता रहा, वह भी एक ही बाणसे मारा गया। भाव कि तू गर्व छोड़कर शरण जा, क्योंकि जब तुझे जीतनेवाला मारा गया तब तू क्या है?—ये सब भाव यहाँ जनाये।

दो०—जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु* प्रिय नारि†॥ २१॥

अर्थ—जिनके लेशमात्र बलसे सारे चराचरमात्रको तुमने जीत लिया और जिनकी प्रिय स्त्रीको तुम हर लाये हो, मैं उन्हींका दूत हूँ॥ २१॥

टिप्पणी—१ (क) **'लवलेस'** एक शब्द है, यथा—***'जासु बिलोकि भगति लवलेसू', 'जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहू',*** इत्यादि। **लवलेस**=किंचित् अंश; लेशमात्र। तात्पर्य कि भगवान्के कामदार आदिका भी बल तुझमें नहीं हैं। (ख) ***'जितेहु चराचर झारि'*** इति। यथा—***'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बस बरती नरनारी॥'*** पुनः, भाव यह कि—(ग) ब्रह्मादिने बल पाया और तूने बलका लवलेश पाया; दूसरे, ब्रह्मादिने प्रभुसे बल पाया और तूने ब्रह्मादिसे पाया, इसीसे तुझमें प्रभुके बलका लवलेश है। (घ) **'झारि'**=झाड़-पोंछकर, सम्पूर्ण, समस्त, एकमात्र। चराचरमात्रको लवलेश बलसे जीत लिया यह प्रभुके बलकी शोभा है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलामें राक्षस भगवान्के बल-वीर्यरूप हैं ही; पर नाटकी कलामें हनुमान्जीकी कितनी उदारता प्रकट है कि शत्रुकी भी यथार्थ प्रशंसा कर ही देती हैं, पर वाक्चातुरी यहाँ भी बनी ही है कि ***'लवलेस'*** ही है।

नोट—१ मा० त० सु० का मत है कि 'यहाँ ***'जाके'*** पद पूर्वोक्त ***'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥'............'*** चौपाईसे सम्बन्ध रखता है। यहाँ बल श्रीराघवजीका है और उस बलके लवमात्रके अधिकारी ब्रह्मादिक हैं, तपस्याद्वारा उनसे पाये हुए लवमात्र बलका अधिकारी तू है। इस लवके लेशमात्र बलमें तूने सब चराचरको जीता।'

नोट—२ यहाँतक हनुमान्जीने परब्रह्म परमात्माके जाननेकी रीति, शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष चारों प्रकारसे दिखायी। ***'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया'*** से ***'तोसे सठन्ह सिखावनदाता'*** तक शब्द, ***'हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि..............'***, यह अनुमान, ***'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे.........'*** यह प्रमाण और ***'जाके बल लवलेस'*** यह प्रत्यक्षके उदाहरण हैं।

नोट—३ मा० म०, मा० शं में इस दोहेका अन्वय यों किया है—'वे (माया, विरंचि आदि जो ऊपर कहे गये) ***जाके बल लवलेस ते चराचर झारि जितेहु तासु दूत मैं*** (हूँ)'। वे लिखते हैं कि पूर्व चार जगह जो बल लिख आये, उसका मतवाद इस दोहेमें प्रसिद्ध है—उन रामजीके लवलेश बलसे मायाने ब्रह्माण्डोंको उत्पत्तिद्वारा जीत लिया। ब्रह्माने चराचरको उत्पत्तिद्वारा, विष्णुने पालन और शिवने संहारद्वारा जीत लिया इत्यादि।'—(पाठक स्वयं विचार कर लें। मा० सं०) पुनः, दूसरा भाव लवलेशका उन्होंने यह लिखा है कि 'राम' शब्दका रकार तेरे नाममें है। उसके बलसे तूने चराचरको जीता। यह भाव करुणासिंधुजीने लिखा है।

टिप्पणी—२ (क) ***'तासु दूत मैं'*** अर्थात् मैं उसीका दूत हूँ जिसके बलकी शोभा (महिमा) ऊपर कही। तात्पर्य यह कि मुझे उसीका बल है जिसके बलका किंचित् ही भाग तुझमें है। अपने बलको साक्षात् न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया। (ख) ***'प्रिय नारि'*** अर्थात् पतिव्रता स्त्रीको। ***'हरि आनहु'*** (अर्थात् जबरदस्ती ले आये), ऐसा कहकर रावणपर उन्होंने कसूर साबित किया। (ग) ***'तासु दूत'***—इस

* आनिहु—भा० दा०। आनेहु—प्रायः औरोंमें। † दोहा दोहरामिश्रित है—(ब्र० चं०)।

पदका सम्बन्ध उपर्युक्त सब चौपाइयोंसे भी है। *'जाके बल' तासु, 'जा बल.........' तासु, 'धरे जो.........तासु'* इत्यादि। (घ) यहाँ अपने आनेका प्रयोजन भी लक्षित कर दिया कि मैं खोज लगाने को ही यहाँ आया हूँ। चराचरमात्रको जीतनेके अभिमानसे एवं मोहवश तुमने उनकी स्त्रीका हरण किया, यह समझकर कि हम उनको जीत लेंगे, वे भी चराचरमें ही हैं। इसीसे आगे सीताजीको लौटा देनेकी प्रार्थना करेंगे। अंगदने भी रावणके प्रश्नोत्तरोंको पूरा करके और ऐसा ही कहकर सीताजीको देनेको कहा है, यथा—*'बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥ नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥ अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा.........॥'* (६। २०)

नोट—४ *'हरि आनेहु'* में यह भी भाव आ जाता है कि तुम धर्म और अर्थको भलीभाँति जानते हो, तपःप्रभावसे तुमने यह ऐश्वर्य सम्पादन किया है। अतः तुमको परायी स्त्री अपने घरमें चोरीसे लाकर बन्द कर रखना उचित नहीं। इस धर्मविरुद्ध कार्यसे तुम्हारा जीवन और ऐश्वर्य नष्ट हो जायेगा। यथा—**'तद्भवान्दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः। परदारान्महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि॥' 'तपस्सन्तापलब्धस्ते सोऽयं धर्मपरिग्रहः। न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः॥'** (वाल्मी० ५। ५१। १७, २५)

नोट—५ उत्तरार्द्धका समानार्थी श्लोक अध्यात्मरामायणमें यह है—'........**रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थिते। यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥'** (५। ४। ८)

टिप्पणी—३ यहाँतक रावणके दो प्रश्नोंका उत्तर हो गया—कौन हो? और किसके बलसे वन उजाड़ा? आगे *'कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही।.........'* का उत्तर देते हैं कि—*'जानउँ.........।'*

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥ १॥
समर बालि सन करि जसु पावा। सुनि कपि बचन बिहँसि बहरावा*॥ २॥

अर्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ कि सहसबाहुसे लड़ाई हुई थी॥ १॥ (फिर तुमने) बालिसे समर करके यश पाया। कपिके वचन सुनकर उसने खूब हँसकर बहला दिया (टाल दिया)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई'* इति *'जानउँ'* का भाव कि तुम पूछते हो कि मैंने तुम्हारा नाम और यश सुना है कि नहीं, उसपर मेरा उत्तर यह है कि तुम्हारी प्रभुता सुननेकी तो बात ही क्या है, मैं तो उसे भलीभाँति जानता हूँ कि कैसी है। उस प्रभुताको जानकर मैंने यह सब किया है। (ख)—*'सहसबाहु सन परी लराई'* अर्थात् तुम लड़ने गये, पर कुछ लड़ाई न हुई; उसने तुमको दौड़कर पकड़ लिया। सहस्रबाहुसे हारना कहकर जनाया कि तू सहस्रार्जुनसे हारा, वह परशुरामसे हारा और परशुराम श्रीरामजीसे हारे। यथा—*'सहसबाहुभुज छेदनिहारा।'* (१। २७२) *'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥ कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥'* (६। २४) (इसमें अंगदजीने सहस्रार्जुनसे रावणका पराजय कहा है और) *'सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥ तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥'* (७। २६)। (इसमें सहस्रार्जुनका परशुरामद्वारा पराजय, भुजछेदन और वध कहकर परशुरामजीका बिना युद्ध ही श्रीरामजीके सम्मुख गर्व चूर हो जाना कहा है। इस प्रकार जनाया कि तब तू किस बलपर घमण्डकर उन श्रीरामजीसे विरोध कर रहा है? उनके आगे तू क्या चीज है जब कि तेरे जीतनेवालेके जीतनेवाले भी उनसे देखते ही हार मान गये। *'परी लराई'* में भाव यह भी है कि लड़ाईका अवसर आया था, तुम लड़ने गये थे, पर थोड़ी ही लड़ाईमें तुम हार गये। इसमें ऊपरसे प्रशंसा यह है कि बीस ही भुज होनेपर भी हजार भुजवालेसे लड़ाई ठानी थी और व्यंगसे अपयश होना प्रकट किया है।)

टिप्पणी—२ (क) बालिसे समर करके यश पाया। यह व्यंग है। भाव कि समर कुछ न हुआ, उसने जाते ही काँखमें दबा लिया जिससे तुझे बड़ा अपयश हुआ। तब हम तुझे क्या डरें कि जो तू

* २२ (१) से २२ (६) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)

कहता है कि *'देखौं अति असंक सठ तोही।'* क्योंकि जिस बालिसे तू हारा उसीको एक बाणसे श्रीरामजीने मार डाला। (ख) *'बिहँसि बहरावा'* इति।—हनुमान्‌जीने कहा कि तुमने चराचरको जीता, तुम्हारी प्रभुता मैं जानता हूँ, सहस्रबाहुसे लड़ाईमें तुम्हारी प्रभुता रही, बालिके समरमें तुमने यश पाया। रावणने सोचा कि अभी तो सभावाले ऐसा ही अर्थ समझेंगे क्योंकि इनमें स्पष्ट बड़ाई है, व्यंगसे निन्दा भरी हुई है; इसीसे वह खूब हँस भी दिया जिसमें सभावाले समझें कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ है, व्यंग वे लोग न समझ पावें।

नोट—१ हास्यकलामें जोरसे हँसकर झेंप मिटानेकी चतुराईपर ध्यान दीजिये। दोनों एक-दूसरेके दाँव-पेंचको समझ गये। श्रीहनुमान्‌जीके व्यंगकी विजय हुई कि उन्होंने प्रसंग बदला। इसीसे अब आगेके 'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द रावणके राजा होनेके सम्बन्धसे सरल अर्थके ही वाचक हैं और जो चार्ज (फर्देजुर्म) उनपर रावणने लगाया था उसका चतुराईपूर्ण, पर स्वाभाविक, उत्तर कितना सुन्दर है कि वकीलोंके अभियुक्त-सम्बन्धी बयान तहरीरी भी निछावर हों? विशेषकर स्वरक्षा (Selfdefence) वाली बात! क्या (Arrest) बन्धन वा गिरफ्तारी गैरकानूनी न हुई? (लमगोड़ाजी)

सहस्रबाहु और रावणकी कथा

सहस्रार्जुन कृतवीर्यका पुत्र और माहिष्मतीका राजा था। भगवान् दत्तात्रेयके आशीर्वादसे इसे, जब यह चाहता, हजार भुजाएँ हो जाती थीं। एक बार जब यह नर्मदामें अपनी स्त्रियोंके साथ जलविहार कर रहा था, संयोगसे उसी समय रावण भी उसी स्थानके निकट जो यहाँसे दो कोसपर था, आया और नर्मदामें स्नान करके शिवजीका पूजन करने लगा। उधर सहस्रबाहुने अपनी भुजाओंसे नदीका बहाव रोक दिया, जिससे नदीमें बाढ़ आ गयी और जल उलटा बहने लगा। शिवपूजनके लिये जो पुष्पोंका ढेर रावणके अनुचरोंने तटपर लगा रखा, वह तथा सब पूजनसामग्री बह गयी। बाढ़के कारणका पता लगाकर और पूजनसामग्रीके बह जानेसे क्रुद्ध होकर रावण सहस्रार्जुनसे युद्ध करनेको गया। उसने कार्तवीर्यकी सारी सेनाका नाश किया। समाचार पाकर राजा सहस्रार्जुनने आकर राक्षसोंका संहार करना प्रारम्भ किया। प्रहस्तके गिरते ही निशाचर सेना भगी तब रावणसे गदायुद्ध होने लगा। यह युद्ध बड़ा ही रोमहर्षण अर्थात् रोंगटे खड़ा कर देनेवाला भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें अर्जुनने ऐसी जोरसे गदा चलायी कि उसके प्रहारसे वह धनुषभर पीछे हट गया और चोटसे अत्यन्त पीड़ित हो वह अपने चार हाथोंके सहारे बैठ गया—**'स त्वर्जुनप्रयुक्तेन गदाघातेन रावणः। अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन्।'** (वाल्मी० ७। ३२। ६२) रावणको विह्वल देख इसी बीचमें अर्जुनने उसे अपनी भुजाओंसे इस तरह पकड़ लिया जैसे गरुड़ सर्पको पकड़ लेता है और फिर उसे इस तरह बाँध लिया जैसे भगवान्‌ने बलिको बाँधा था। रावणके बँध जानेपर प्रहस्त आदि उसे छुड़ानेके लिये लड़े, पर कुछ कर न सके, भागते ही बना। तब सहस्रार्जुन रावणको पकड़े हुए अपने नगरमें आया। अन्तमें श्रीपुलस्त्यमुनिने जाकर उसे छुड़ाया और मित्रता करा दी।—यह कथा वाल्मी० प्रक्षिप्त सर्ग ३१—३३ में है। विशेष—*'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥'* (लं० २४। १५) में देखिये।—इस कथाके अनुसार यह भी व्यंगसे जनाते हैं कि तू वही तो है जिस, सहस्रबाहुके कारागारमें बँधे पड़े हुएको तेरे पितामह पुलस्त्यजी दीन होकर भिक्षा माँग लाये थे—**'जितं मन्ये कारागृहविनिहितं हैहयपतेः, पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृतकृपणं**..............।' (हनु० ना० १४। २५)

बालि और रावणकी कथा

रावण दिग्विजयके समय बालिको जीतनेके लिये किष्किन्धा गया। यह मालूम होनेपर कि वह दक्षिण समुद्रतटपर सन्ध्यावन्दन करने गया है, रावण वहाँ गया और चाहता था कि चुपचाप पीछेसे जाकर उसे पकड़ लें। बालि रावणकी धूर्तताको ताड़ गया और जैसे ही वह निकट आया, बालिने तुरत फिरकर उसे

पकड़कर बगल (काँख) में दबा लिया और दाबे हुए ही वहाँकी शेष सन्ध्या पूरी करके आकाशमार्गसे उड़कर शेष तीन दिशाओंके समुद्रोंपर जा-जाकर उसने सन्ध्याएँ कीं। फिर वैसे ही दबाये हुए बालि किष्किन्धामें आया और इसे बगलसे गिराकर पूछा कि 'तुम कौन हो? कहाँ से आये हो?' रावणने लज्जित हो अपना परिचय दिया और बालिकी भूरि-भूरि प्रशंसाकर उससे मित्रताकर उसके यहाँ एक मासतक उसके छोटे भाई सुग्रीवकी तरह रहकर तब लंकापुरीको लौट गया। यह कथा वाल्मी० उ० सर्ग ३४ में है। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख है कि छः मासतक बालि इसे काँखमें दाबे रहा। हनुमन्नाटकमें अङ्गदने कहा है कि तुझे बालिने मेरे पालनेके ऊपर मेरी बालक्रीडाके लिये बाँध दिया था। मैं तुझे लातोंसे मारा करता था। यह तेरी बड़ी भूल और मोह है। यथा—'**आस्तेऽत्रापि तवाऽस्ति विस्मृतिरहो मोहो महानीदृशः। पर्यङ्के निजबालकेलिकृतये बद्धोऽसि येनोपरि॥**' (हनु० ८। ११)—'*जसु पावा*' में व्याजनिन्दा अलंकार है कि दस सिरों और बीस भुजाओंवाले रावणको एक वानरने काँखमें दबा रखा और उसका लड़का अङ्गद अपने चरणोंके ताड़नसे उस रावणके सिरोंको गेंदकी तरह उछाल-उछालकर खेला करता था। यथा—'........**तातकक्षावशिष्टः। प्रोद्धृत्योद्धृत्यपादप्रहतबहुशिरः कन्दुकैः क्रीडतोऽस्मि॥**' (हनु० ना० ८। ४६)

टिप्पणी—३ (क) '*बहरावा*' इति। बहला दिया। क्योंकि यहाँ बहलानेका योग है। यदि कपिने खोलकर कहा होता तो बहलाते न बनता। '*बहरावा*' अर्थात् अन्यत्र देखने लगा, दूसरेसे बात करने या दूसरेकी बात सुनने लगा जिसमें हनुमान्‌जी चुप हो रहें, उस प्रसंगकी चर्चा छोड़ दें; नहीं तो यदि सम्मुख सुनता ही रहता तो ये कहते ही जाते। (ख) रावणका पराजय खोलकर क्यों न कहा? क्योंकि पराये छिद्रोंको खोलकर कहना खलता है। श्रीहनुमान्‌जी संत हैं, अतएव उन्होंने छिद्रको गुप्त रीतिसे जनाया—'*जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।*'

खाएउँ प्रभु फल लागी भूखा। कपि सुभाउ ते तोरेउँ रूखा॥ ३॥
सबके देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारगगामी॥ ४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥ ५॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खाये। (अर्थात् आपके नगरमें आनेपर भूख लगी तो क्षुधानिवारणार्थ कहाँ जाता? अतः खाने लगा) और वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़े॥ ३॥ हे स्वामी! देह (अपना-अपना शरीर) सबको परमप्रिय होती है। कुमार्गपर चलनेवाले आपके निशाचर मुझे मारने लगे॥ ४॥ जिन्होंने मुझे मारा, उन्हें मैंने (भी) मारा। इसपर भी आपके पुत्रने मुझे नागपाशमें बाँधा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) '*खाएउँ फल प्रभु लागी भूखा।.............*' यह रावणके '*केहि के बल घालेहि बन खीसा*' का उत्तर है। इस उत्तरमें कैसी चतुरता भरी हुई है? यदि कहते कि जिसका बल ऊपर कह आये। उसके बलसे हमने वन उजाड़ा तो कसूर अपने ऊपर साबित हो जाता। इसीसे प्रभुका बल प्रथम कहकर वन उजाड़नेका उत्तर बड़ी युक्तिसे दे रहे हैं कि 'क्षुधा निवारणार्थ खाया..........।', इसमें मैंने क्या अपराध किया? तुम '*प्रभु*' हो; स्वयं विचार सकते हो कि मेरा कोई अपराध नहीं था। यदि वह कहे कि वानर-देह कौन उत्तम है कि जिसके लिये लाखोंका वध तुमने किया, (न खाते) तो उसपर कहते हैं कि देह सबको परमप्रिय है, चाहे कोई भी देह क्यों न हो! '*परम प्रिय*' का भाव कि अन्य पदार्थ प्रिय हैं और देह परम प्रिय। यथा—'*देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।*' (ख)—भूखेको फल खानेमें मारा इसीसे '*कुमारगगामी*' हैं, '*मोहिं*' का भाव कि मैं वानर हूँ, वानर वनमें फल-फूल खाते ही हैं, तब भी मुझे मारा। यही बात मन्दोदरीने भी कही है, यथा—'*काननु उजार्‌यो तौ उजार्‌यो, न बिगार्‌यो कछु, बानर बेचारो बाँधि आन्यो हठि हारसों।*' (क० ५। ११) ['*कुमारगगामी*' कहकर यह भी जनाया कि कुमार्गपर चलनेसे तेज, बल, बुद्धि जिनसे रणमें जीत होती है, नष्ट हो जाते हैं, यथा—'*इमि कुपंथ*

पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥' (३। २८। १०) इसीसे आपके कुमार्गगामी राक्षस अपने पापसे मरे। रावण भी कुमार्गगामी है, यथा—*'रे त्रियचोर कुमारगगामी।'* (६। ३२। ५) अतः *'कुमारगगामी'* शब्द देकर यह भी जनाया कि तेरा भी तेज और बल नष्ट हो गया है, यथा—*'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥'* (३। २८। ९) तू भी अपने पापसे शीघ्र ही नष्ट होगा। यथा—*'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी॥'* (६। १०१। ४)]

नोट—१ यहाँ प्रभु और स्वामी शब्दमें कोई शंकाकी बात नहीं है। दूतको उचित है कि जब जहाँ जैसा उचित समझें वैसे कठोर या कोमल शब्दोंका प्रयोग करे। पहले रावणको 'शठ' कहा, यह उसके *'सुनु सठ'* के उत्तरमें। दूसरे, रामदूतकी हैसियतसे अपने स्वामीका बल यहाँ कह रहे थे, उस सम्बन्धसे *'तुम्हसे सठन्ह'* कहा। अब अपने ऊपर बात लेकर उत्तर देते हैं तब सभ्यता और धर्मशास्त्रकी मर्यादासे उत्तर देते हुए *'प्रभु'* और *'स्वामी'* सम्बोधन किये गये। 'प्रभो' सम्बोधन वाल्मीकीय और अध्यात्मादि रामायणोंमें भी आया है। यथा—'**श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो॥**' (वाल्मी० ५। ५०। १९) '**दृष्ट्वा मया पद्मपलाशलोचना सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम्। दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागतान् मां हन्तुकामान्धृतचापसायकान्॥ मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः प्रियो हि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो। ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः समागमन्मेघनिनादनामकः॥**' (अध्यात्म० रा० ५। ४। १२-१३)। अर्थात् हे प्रभो! मेरे हित वचन सुनिये। मैं कमलनयनी श्रीजानकीजीका दर्शन कर चुका हूँ। कपिस्वभावसे मैंने वन उजाड़ा। अस्त्र-शस्त्र लिये मुझे मारनेको राक्षस आये, अतः मैंने उनको मारकर अपने शरीरकी रक्षा की। हे प्रभो! अपना शरीर तो सभी देहधारियोंको प्रिय होता है। फिर यह मेघनाद मुझे ब्रह्मपाशमें बाँध लाया। पुनः देखिये कविने रावणके लिये भी 'अवतार' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—*'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।'* और इस समय वह बड़ा भारी राजा भी है। तब 'प्रभु, स्वामी' सम्बोधन अनुचित नहीं हैं। तथापि करुणासिंधुजी और मयंककार आदिने इस प्रकार अर्थ किये हैं—(१) *प्रभु*=स्वामी=राजन्। (२)—हे फलप्रभु! अर्थात् फलोंके मालिक एवं हे कुमार्गगामी लोगोंके स्वामी! कुमार्गगामी मोहि मारहिं। (करु०) (३) प्रभु (जो हमारे हृदयमें बसे हैं उन) को भूख लगी तब हमने फल खाये। वा, (४) अपने प्रभुके फल हमने खाये। (मा० म०, मा० शं०) (५) व्यंगभावसे अथवा निर्भयता और निरादरके भावसे। (मा० शं० मो०) (६)—अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके फल खाये। भक्त सारी सृष्टि और पदार्थोंको प्रभुका ही जानते-मानते हैं—इस भावसे ऐसा कहा। (पं०) इत्यादि।—पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं, खींचतान और वाग्विलास ही हैं।

टिप्पणी—२ *'जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारे।..............'* इति। (क) तात्पर्य कि हमने किसीको नहीं मारा, अपने प्राण बचानेके लिये मारा। (ख) पहले कहा कि कपिस्वभावसे हमने वृक्ष तोड़े। इसपर यह कहा जा सकता है कि सब वृक्षोंको उखाड़ डालना, यह कौन वानरी स्वभाव है? उसका उत्तर भी इसीमें आ गया। राक्षसोंने हमको अस्त्र-शस्त्रसे मारा, तब हम वृक्ष उखाड़-उखाड़कर मारने लगे—[वाल्मीकीय-में भी यही कहा है कि जो लड़नेके लिये मेरे पास आये उनसे मैं भी शरीररक्षार्थ लड़ा। '**ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः॥ रक्षणार्थं तु देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे।**' (५। ५०। १५-१६)] इससे यह भी जनाया कि मैं उनसे कुछ निर्बल तो था नहीं कि मार खाता और न बोलता। पुनः, भाव कि आपके अनुचरोंने मुझे मार डालनेकी नीयतसे मुझपर अस्त्र-शस्त्रसे आघात किया, पर मैं न मर सका और अपनी रक्षाके लिये मैंने तो वृक्षमात्रसे उनपर प्रहार किया, इसीमें वे मर गये तो मेरा इसमें क्या अपराध? (ग) *'तेहि पर बाँधेउ'* का भाव कि हमको बिना अपराध मारते रहे और फिर हमको ही बाँधा, इससे यह तुम्हारा पुत्र भी कुमार्गगामी है। (घ) *'तनय तुम्हारे'* का भाव कि राजाका पुत्र होकर भी इसने अधर्म और अनीति किया, जो उसे न चाहिये था। अथवा, जब तुम अधर्मी हो तो तुम्हारा पुत्र क्यों न अधर्म करे? पुनः भाव कि—(ङ) जिन्होंने मुझे मारा उनको मैंने मारकर बदला चुका लिया; पर तुम्हारे लड़केने जो मुझे बाँधा इसका बदला अभी लेना है; अभी मैंने कुछ नहीं किया आगे करूँगा,यह आगेके *'कीन्ह चहौं निज प्रभु*